पुस्तक :
'पतझर और वसन्त'
लेखक :
विजय मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
प्रथम प्रवेश :
सन् १९६१
मूल्य :
दो रुपये
मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'पतझर और वसन्त' है। यह पुस्तक विभिन्न विषयों पर लिखे गए निबन्धों का संकलन है। नैतिकता, जीवन, संस्कृति, धर्म और दर्शन विषय पर इसमें इकतालीस निबन्ध हैं। निबन्धों की भाषा सरस है, शैली सुन्दर है और भावाभिव्यक्ति अपने ढंग की निराली है। प्रत्येक निबन्ध पाठक को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान करेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

श्री विजय मुनि जी की मंजी हुई लेखनी से लिखे गए ये लेख व्यक्ति, परिवार और समाज के लिए मंगलमय सिद्ध होंगे—ऐसी मेरी विचारणा है। विशेषतः स्कूल और कालिजों में पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। निबन्धों की आधार-भूमि मनोवैज्ञानिक होने से यह निबन्ध हर किसी व्यक्ति के हाथों में पहुँच कर उसे लाभकारी सिद्ध होंगे।

सन्मति ज्ञानपीठ की ओर से प्रकाशित निबन्ध-साहित्य में 'पतझर और वसन्त' अपना एक विशेष स्थान रखता है। पुस्तक का विषय, शैली और भाषा सरल से सरल इसलिए रखा गया है, कि इससे हर व्यक्ति लाभ उठा सके।

सन्मति ज्ञानपीठ आगरा

मंत्री—
सोनाराम जैन

समर्पण

शिल्पकार : शिल्पकार एक अनघड़ पत्थर को कला का रूप देकर सुन्दर, पूज्य और आदरणीय बना देता है। यदि कलाकार अपनी कला का चमत्कार न दिखाता, तो वह पत्थर अन्य पत्थरों से कोई विशेषता न रखता। पत्थर को कला का रूप शिल्पकार ने ही दिया।

चित्रकार : चित्रकार अपनी तूलिका और विभिन्न रंगों के समन्वय से धवल कागज पर सुन्दर चित्र का जब अंकन करता है, तब द्रष्टा विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। एक सुन्दर चित्र क्या है? एक चित्रकार की प्रतिभा और अनोखी सूझ-बूझ ही तो चित्र है।

गुरु प्रवर : गुरु क्या है? प्रकाश का अधिदेवता। गुरु क्या है? महिमा और गरिमा का माप-दण्ड। गुरु हिमालय से भी महान् होता है, और सागर से भी अधिक गम्भीर। शिष्य के जीवन को नयी दिशा और नया मोड़ देने वाला गुरु ही होता है। मेरे जीवन को नयी दिशा प्रदान करने वाले पूज्य गुरुदेव श्रद्धेय **'उपाध्याय अमरचन्द्र जी महाराज'** के पवित्र कर-कमलों में 'पतझर और वसन्त' सादर समर्पित है।

—विजय मुनि

लेखक की कलम से

अपने प्रेमी पाठकों को 'गुलाब और काँटे' के बाद 'पतझर और वसन्त' का उपहार देकर मुझे परम प्रसन्नता है। उपहार कैसा है? यह मेरे सोचने की बात नहीं। पाठक स्वयं इसका मूल्यांकन करें!

आज के युग में नैतिकता मर रही है, और विलासिता पनप रही है। मानवता साँस ले रही है, और दानवता तन कर खड़ी है। विचार क्षीण हो रहा है, और विकार पीन होता जा रहा है। सचमुच, आज के मानव परिवार के सामने यह एक विकट समस्या है।

आज की सब से बड़ी माँग है—नैतिकता। आज की सबसे बुलन्द आवाज है—सदाचार। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है—धर्म, नीति और संस्कृति। भारत बिना भोजन के जीवित रह सकता है। पर, वह धर्म और संस्कृति के बिना कभी जीवित नहीं रह सकता। आज के इस गए-गुजरे जमाने में भी भारत की मिट्टी के कण-कण से शील और सदाचार का मधुर संगीत मुखरित हो रहा है।

मेरे विचार में उपदेश की पुरातन पद्धति आज के भारत में बेकार हो चुकी है। नया भारत पुरानी बात को आज के नये निखार में सुनना पसन्द करता है। वह नया निखार क्या है? मनोविज्ञान के आधार पर नैतिकता, शील और सदाचार का प्रसार और प्रचार।

'पतझर और वसन्त' में नैतिकता, शील और सदाचार को मैंने मनोविज्ञान के माध्यम से रखने का प्रयत्न किया है। मैं नहीं कह सकता, कि इस प्रयत्न में मुझे कितनी सफलता मिली है। सफलता और विफलता की तोल मेरे पास नहीं है। उसे रखना भी मैं पसन्द नहीं करता। यह काम तो पाठकों का है। हाँ, पुस्तक का नाम मैंने पाठकों की रुचि पर न छोड़ कर, अपनी रुचि पर रख छोड़ा है।

जैन-भवन आगरा

—विजय मुनि

कहाँ क्या है ?

१

मन के जीते जीत

मन अक्षय शक्ति का भण्डार है। मन में अपार बल है। संसार पर आज तक जिन्होंने विजय प्राप्त की है, वह मन के बल पर ही। मन के हारने पर मनुष्य हार जाता है, मन के जीतने पर मनुष्य जीत जाता है। मनोबल से ही राम ने रावण को जीता, कृष्ण ने कंस को जीता। मनोबल से गांधी ने भारत को बलवान् बनाया। सब प्रकार की सफलताओं का आधार मनोबल है, मनःशक्ति है, इच्छा-शक्ति है। संसार पर विजय प्राप्त करने की दो ताकतें हैं—पहली मन की, और दूसरी तलवार की। पर मन की शक्ति के सामने तलवार की ताकत कमजोर है। उस स्थिति में कमजोर है, जबकि मनुष्य का मन प्रबुद्ध एवं जागृत हो।

मन क्या है? मन एक शक्ति है। वह एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसको आँख देख नहीं सकती, हाथ पकड़ नहीं सकता।

को प्रवेश न करने दें। इच्छा-शक्ति से उसको दूर भगा दीजिए। उसके स्थान पर किसी सुन्दर विचार को प्रवेश करने दीजिए। हीन-विचार के विरोध में महान् विचार को रखने से हीन-विचार नष्ट हो जाएगा, क्योंकि मन में एक समय में एक ही विचार काम कर सकता है।

आप यदि अपने मन में प्रवेश करने वाले हर गलत विचार को रोक सको और उसके स्थान पर सही विचार को ला सको, तो धीरे-धीरे आपका मन इतना सध जाएगा, कि उसमें बुरा विचार प्रवेश ही न पा सकेगा। अभ्यास से सब कुछ हो सकता है। इस काम में सफल होने के लिए आपको अपनी कल्पना और इच्छा-शक्ति से बहुत सहयोग मिल सकता है। कल्पना में आप देखिए, कि आप कठिन से कठिन काम को भी बड़ी आसानी से और किसी प्रकार की व्याकुलता के बिना कर लेते हैं। अपनी इच्छा-शक्ति के प्रयोग से आप अपनी कमजोरी को दूर करने का प्रयत्न करें।

आप अपने चरित्र-बल का विकास कीजिए और अपने बल पर अपना निर्माण कीजिए। आपके विचारों में बहुत बड़ी ताकत है। विचार का सुधार ही सच्चा सुधार है। आचार का सुधार विचार के सुधार पर आधारित रहता है। अपने संकल्प-बल को बढ़ाने का सदा प्रयत्न कीजिए। अपने जीवन में विचार की ज्योति जलने दीजिए। आप जितना भी कर सकते हैं, प्रकाश को प्यार कीजिए, फिर अन्धकार तो अपने आप ही भाग जाएगा। विचार से जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन हो सकता है। अपने जीवन की कसौटी कीजिए। नीचे लिखे प्रश्नों में से जिस प्रश्न

का उत्तर आप स्वीकृति में दें, वह प्रश्न आपकी कमजोरी बताता है। उसका सुधार कीजिए।

१. क्या आपको क्रोध शीघ्र आता है?
२. क्या आप शीघ्र बहस में उतर पड़ते हैं?
३. आप उत्तेजना और घबराहट के शिकार तो नहीं होते?
४. क्या आप अपना निर्णय जल्दी में देते हैं?
५. दूसरों की भूल पर आपको हँसी तो नहीं आती?
६. क्या अपनी आलोचना आपको बुरी लगती है?
७. आप काम को बोझा तो नहीं समझते?
८. आपका स्वभाव चिड़चिड़ा तो नहीं है?
९. क्या आप दूसरों की सुविधा के विषय में भी कभी सोचते हैं?

3

मैत्री-भावना

मनुष्य के मन में जो विश्व-व्यापी प्रेम की भावना है, उसको मैत्री कहते हैं। मैत्री का जन्म—परस्पर के विश्वास से और अभय की मृदु भावना से होता है। प्रेम और मैत्री—अलग नहीं हैं, दोनों एक हैं। फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर अवश्य है। प्रेम सजातीय से भी हो सकता है, परन्तु मैत्री में सजातीयता और विजातीयता का जरा भी भेद नहीं रहता है। प्राण-प्राण में जो अपनत्व भाव है, उसी को मैत्री कहते हैं। प्रेम में एक सीमा होती है, पर मैत्री में किसी प्रकार की सीमा को अवकाश नहीं है। मैत्री सदा असीम होती है।

एक मित्र को दूसरे मित्र से किसी प्रकार का भय नहीं होता। इसी प्रकार संसार के समस्त जीवों को हम से भय नहीं रहेगा, जब मैत्री का प्रकाश हमारे जीवन में प्रकट होगा। जहाँ प्रेम है—वहाँ विश्वास है, जहाँ विश्वास है—वहाँ अभय है, और

जहाँ अभय है—वहाँ मैत्री-भाव है। प्रेम, विश्वास, अभय और मैत्री—यह सब मैत्री-भाव का विकास-क्रम है।

शत्रुता, जीवन का एक तीव्र शल्य है। शत्रुता का जन्म स्वार्थ से होता है। शत्रुता, जीवन का कलंक है। जब तक मन में शत्रु-भावना रहेगी, मनुष्य कभी भी अपना विकास नहीं कर सकेगा। शत्रुता, आत्मा का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वभाव है—मैत्री। जहाँ प्रकाश है, वहाँ अन्धकार नहीं रह सकता। इसी प्रकार जहाँ मैत्री है, वहाँ शत्रुता नहीं रह सकती। जिस मन में राम का वास है, वहाँ रावण का निवास कैसे होगा? मैत्री, अहिंसा और प्रेम—ये सब मनुष्य-जीवन के दिव्य-भाव हैं। और वैर, विरोध तथा शत्रुता—ये सब मनुष्य-जीवन के आसुरी-भाव हैं। आसुरी-भाव का निराकरण ही दैवी-भाव का समादर होगा। स्वार्थ को छोड़कर परार्थ की ओर बढ़ना—मैत्री है। मैत्री, जीवन का मधुर वरदान है और शत्रुता, जीवन का भयंकर अभिशाप है।

सामाजिक जीवन में जो बात मैत्री, सद्भावना, प्रेम और अहिंसा से सहज में की जा सकती है—वह वैर, विरोध और शत्रुता से नहीं। व्यक्ति को बदलने के दो मार्ग हैं—विरोध और अनुरोध। विरोध, वैर का मार्ग है और अनुरोध, अहिंसा का मार्ग है। मैत्री, कल्याण का रास्ता है और शत्रुता, विनाश का पथ है। जब प्राणि-मात्र में हम प्रेम-भाव पैदा कर सकेंगे, तभी हम मैत्री-भाव की आराधना कर सकेंगे। मैत्री-भाव ही मनुष्यता का सार-तत्त्व है।

४

चिन्ता और चिता

चिन्ता एक मानसिक रोग है। चिन्ता से मनुष्य का बल, बुद्धि और ज्ञान—सब कुछ नष्ट हो जाता है। चिन्ता-शील व्यक्ति सदा अशान्त, चंचल और भयभीत-सा रहता है। चिन्ता एक संसार-व्यापी महारोग है, जो सब देशों के मनुष्यों में पाया जाता है। वर्तमान काल में संसार में जो भय, शोक और विषाद का प्रसार हो रहा है, उसका मूल कारण एक मात्र चिन्ता है। इसमें फँसकर कितने ही मनुष्यों ने अपने स्वास्थ्य को, अपने सौन्दर्य को और अपने बुद्धि-बल को चौपट किया है, और कर भी रहे हैं।

चिन्ता का रोग बहु-व्यापी और भयंकर अवश्य है, फिर भी इसकी चिकित्सा की जा सकती है। इस रोग को भगाने के लिए सब से पहले मानसिक साहस की आवश्यकता है। पहले

रोगी के मन का भय दूर करना चाहिए, क्योंकि भय की नींव पर ही हर तरह की चिन्ता पनपती है और बढ़ती है। अपने मन को शोध करने पर ज्ञात हो सकता है, कि चिन्ता का स्रष्टा स्वयं मनुष्य ही है। चिन्ता का जन्म मनुष्य के मन में ही होता है। बाहर का वातावरण तो केवल चिन्ता की बेल में खाद-पानी का काम करता है। जिस किसी मनुष्य के मानस में चिन्ता जड़ जमा लेती है, उस मनुष्य के मन में एक प्रकार की हीन-भावना उत्पन्न हो जाती है, कि वह दूसरों से हीन है, वह दूसरों से तुच्छ है, वह दूसरों से पामर है। वह सोच-विचार आपकी मुसीबतों को बड़ा बना देता है। मनुष्य जितना सोचता है, मुसीबत उतनी ही बढ़ जाती है। इस प्रकार मनुष्य चिन्ता के पंजे में फँस कर अपने जीवन को हेय समझने लगता है।

चिन्ता करने से किसी प्रकार का लाभ तो होता नहीं है, स्वास्थ्य अवश्य बिगड़ जाता है। निरन्तर चिन्ता करते रहने से गुरदे की ग्रन्थि से अधिक मात्रा में रस निकलने लगता है, और रक्त में मिल कर उसे दूषित कर देता है। परिणामतः शरीर की कान्ति फीकी पड़ जाती है। त्वचा रुक्ष होकर पीली पड़ जाती है। सिर में सदा दर्द रहने लगता है और थकान बनी रहती है। मन्दाग्नि हो जाने के कारण भूख भी नहीं लगती। भोजन पचता नहीं, इसलिए रोगी नित्य कमजोर होता चला जाता है। कुछ दिनों में वह इतना क्षीण हो जाता है कि अपने रोग से लड़ने की शक्ति भी उसमें नहीं रह पाती। फिर दुर्बलता के कारण शरीर में अनेक नए-नए रोग पैदा हो जाते हैं।

दीर्घ-काल तक चिन्ता करते रहने से मनुष्य का स्नायु-मण्डल भी विकृत हो जाता है। स्नायु-जाल में विकार हो जाने का परिणाम यहाँ तक भयंकर है कि मनुष्य पागल हो जाता है। शरीर की सुन्दरता नष्ट हो जाती है। सिर के बाल पक कर श्वेत हो जाते हैं। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। सूरत बिगड़ जाती है। आँखें निस्तेज हो जाती हैं। चिन्ता का प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क और शरीर पर ही नहीं, उसके चरित्र और स्वभाव पर भी पड़ता है। चिन्ता के कारण से मनुष्य के मन का उत्साह मर जाता है। स्फूर्ति चली जाती है। इच्छा-शक्ति कमजोर हो जाती है। तर्क करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। चिन्ता-शील व्यक्ति के मन में सद्‌विचार और विवेक नहीं रह पाता।

चिन्ता, चिता के समान है। दोनों में शब्द-दृष्टि से केवल एक बिन्दु का ही अन्तर है। अर्थ-दृष्टि से अन्तर यह है कि चिता मृत-कलेवर को जलाती है, और चिन्ता जीवित व्यक्ति को जलाती है। चिन्ता एक संक्रामक रोग है। चिन्ता का रोगी चिन्ता विखेरता फिरता है। अतः उसका भयंकर परिणाम दूसरों को भी भोगना पड़ता है। वह अपने प्रसन्न-चित्त मित्रों के मन में भी अपने उदासी भरे व्यवहार से झुँझलाहट पैदा कर देता है। इस कारण से लोग उसके पास बैठना भी पसन्द नहीं करते, सदैव बचते रहते हैं। जहाँ विचार का अन्त होता है, वहीं से चिन्ता का आरम्भ हो जाता है। चिन्तना, चिन्ता और चिता में बड़ा अन्तर रहता है। चिन्तना विचार है, चिन्ता रोग है, और चिता मृत को जलाती है।

माना कि चिन्ता एक भयंकर रोग है, पर उससे मुक्त होने

के भी अनेक उपाय हैं। एकान्त स्थान पर बैठकर विचार कीजिए कि आपके मन में कितने प्रकार की चिन्ताएँ हैं, और वे किस कारण से पैदा हुई हैं ? उन पर गम्भीरता के साथ विचार कीजिए। अपने मन की चिन्ता को हर किसी के सामने कहने से कोई लाभ न होगा। यदि कोई व्यक्ति सही मायने में आपका परम मित्र हो, तो अवश्य ही उसके सामने अपनी समस्या को रख सकते हो। भावुकता को दूर करके विचार-बुद्धि से काम लेना चाहिए। कल्पना कीजिए, आपकी चिन्ताएँ इस प्रकार हैं—

१—एक लड़का पढ़ता-लिखता कुछ नहीं है, वह पास कैसे होगा ?

२—पास में धन तो है नहीं, फिर लड़की का विवाह कैसे होगा ?

३—मेरा वेतन तो बढ़ा नहीं है, फिर इसमें गुजारा कैसे होगा ?

उपर्युक्त चिन्ताएं आपको सदा परेशान रखती हैं। अब, आप क्रमशः इन पर विचार कीजिए, खूब सोचिए, और उपयोगी हल ढूंढ़ने का प्रयत्न कीजिए। यदि आप अपनी विचार-बुद्धि से काम लेंगे, तो उनका हल इस प्रकार से निकाल सकेंगे—

१—अपने व्यस्त समय में से कुछ समय निकाल कर, मैं स्वयं लड़के को प्रेम से पढ़ाने का प्रयत्न करूंगा। उसकी दुर्बलता को दूर करने की कोशिश करूंगा।

२—पास में धन नहीं है, यह सत्य है। पर लड़की का विवाह साल-छह महीने बाद में भी हो सकता है। तब तक

फिजूल-खर्च को घटाकर कुछ धन एकत्र कर लूँगा। अधिक दिखावा न करके थोड़े मे ही काम निकालूँगा।

३—वेतन नहीं बढ़ा, यह सत्य है। पर, क्या चिन्ता करने से मेरा वेतन बढ़ जाएगा? उसके लिए प्रयत्न करना तो ठीक है, पर चिन्ता करना व्यर्थ है। उससे कुछ लाभ न होगा।

इस प्रकार सोचना और सोच कर कुछ कर गुजरना, चिन्ता से मुक्त होने का मनोवैज्ञानिक मार्ग है। जब निशाना साध लिया है, तो तीर छोड़ ही दीजिए। अपनी जो शक्ति आप चिन्ता करने में व्यय करते हैं, उसे किसी रचनात्मक कार्य में लगा दीजिए। आपको सफलता अवश्य मिलेगी। आपकी प्रत्येक सफलता, आपकी हरेक चिन्ता को दूर करेगी। आप अपने वर्तमान समय का सदुपयोग कीजिए और भविष्य के लिए आशा बनाए रखिए। मन को सदा स्वस्थ और बलवान् रखिए, फिर चिन्ता कभी आपके पास बुलाने पर भी न आएगी।

५

आशा : मानव की परिभाषा

संसार का समस्त व्यवहार आशा पर ही चल रहा है। मनुष्य आशा पर ही जीवित है। विना आशा के मनुष्य एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए तो आशा—मानव की परिभाषा वन गयी है।

आशा के समान मधुर, प्रिय और प्रेरणा देने वाला अन्य शब्द शब्द-कोष में नहीं है। जीवन में जब आशा का प्रकाश आ जाता है, तब व्यक्ति अपने किसी भी काम में असफल नहीं होता। आशा से सफलता प्राप्त करता है, और सफलता फिर उसके मन में आशा का प्रकाश भर देती है। अतः आशा मनुष्य-जीवन के लिए सब से वड़ी शक्ति है। अवसाद और विषाद के रोग को दूर करने की एकमात्र दवा है—आशा, आशा, आशा! आशा से बढ़कर मानव के लिए इस धरा पर अन्य क्या वरदान होगा?

निराशा, मानव-जीवन के लिए एक दारुण अभिशाप है, और आशा, मानव-जीवन के लिए एक सुन्दरतम वरदान है।

कल्पना कीजिए, दो व्यक्ति हैं। दोनों एक साथ ही रोग से आक्रान्त हुए हैं। एक जल्दी स्वस्थ हो जाता है, और दूसरा दीर्घ-काल तक रोग-शय्या पर पड़ा-पड़ा गला करता है। क्या कभी आपने यह विचार किया कि ऐसा क्यों होता है ? मनोविज्ञान इसका उत्तर देता है—एक आशावादी था, जो शीघ्र स्वस्थ हो गया। दूसरा निराशावादी था, जो अपने मन में यह विश्वास कर चुका था, कि अब मैं स्वस्थ नहीं हो सकता।

देखा, आपने ! आशा में कितना बड़ा चमत्कार है ? आशा, जीवन है। निराशा, मरण। हमारे मन के विचारों का प्रभाव हमारे शरीर पर अवश्य ही पड़ता है। अतः मन में सदा आशा-मय विचार भरो और निराशामय विचार दूर करो। जब मनुष्य के मन में यह भावना पैदा होने लगे कि—वह पामर है, वह तुच्छ है, वह छोटा है, तब उसे अपने उस अंधेरे मन में आशा का मधुर दीप जलाना चाहिए। आशा—प्रकाश है, और निराशा—अन्धकार है। निराशा से घिरा इन्सान अपनी जिन्दगी में कोई बड़ा काम नहीं कर सकता।

जिसके जीवन में आशा का दीप पूरे प्रकाश से जग-मग करता रहता है, निश्चय ही वह मनुष्य बड़ा भाग्यशाली है। जो व्यक्ति स्वयं भी आशामय जीवन व्यतीत करता है, और दूसरों को भी आशामयी प्रेरणा देता है, वह आशा का अग्रदूत है। वह लोगों को आशामय जीवन बिताने की कला सिखाता है। जो संसार को आशा का प्रकाश बाँट कर निराशा के अन्धकार को दूर करता है, अवश्य ही वह संसार का महापुरुष है, एक दिव्य पुरुष है।

कुरुक्षेत्र की रण-भूमि में कौरव-पक्ष की विशाल सेना को देख कर अर्जुन निराश और हताश होकर बैठ गया। परन्तु कृष्ण की आशाभरी और प्रेरणामयी वाणी को सुनकर उसकी मनोभूमि में आशा का अंकुर फूट निकला। वह लड़ने को तैयार हो गया। अन्त में अर्जुन को युद्ध में विजय भी मिली। यह सब आशा का ही दिव्य प्रभाव है, जिसे कृष्ण ने उसके मन में जागृत की थी।

जैन साहित्य में वह अमर घटना आज भी ताजा है, जब कि भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य और उनके संघ के संचालक, गणधर इन्द्रभूति गौतम के मन में भी यह निराशा आ गई थी, कि मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी। मुझे अभी तक केवल-ज्ञान भी नहीं हुआ। मेरे ही शिष्य जो मेरे हाथों से दीक्षित हुए थे, उनमें से बहुत-से केवली हो चुके हैं। पर, मुझे वह सफलता क्यों नहीं मिली? इन्द्रभूति के मन में इस प्रकार के निराशामय विचार देखकर भगवान् महावीर ने आशाभरी वाणी में गौतम को सान्त्वना देते हुए कहा था—

"गौतम! निराश मत बन। तू ने विशाल संसार-सागर को तो पार कर लिया है। अब, किनारे आकर क्यों अटक गया? इस तीर को भी पार करने का प्रयत्न कर। तुझे सफलता अवश्य मिलेगी। साधना में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर!"

इस आशामयी वाणी का गौतम के मन पर अद्‌भुत प्रभाव पड़ा, क्योंकि भगवान् की वाणी पर गौतम को अटूट विश्वास था, गहरी आस्था थी।

बुद्ध ने भी बहुत-से निराश व्यक्तियों के जीवन में आशा का प्रकाश भर कर उन्हें सन्मार्ग पर लगाया। महापुरुष संसार में आशा का दिव्य प्रकाश लेकर ही आते हैं। पुत्र मोह से मूढ़ दशा

२

को प्राप्त हुई गौतमी को बुद्ध ने आशा का दिव्य प्रकाश देकर उसके जीवन की रक्षा की।

ये सब आशा की चमत्कारमयी गाथाएँ हैं। आशा में कितना बल है, कितनी शक्ति है? आशा एक संजीवनी शक्ति है, जिससे निराश व्यक्ति फिर से अपने कर्म में लगकर सफलता प्राप्त कर लेता है। आकाश जब काले बादलों से घिरा रहता है, तब भी सूर्य की प्रभा संसार को प्रकाश देती ही रहती है। संकट और कष्ट आने पर भी निराशा को अपने मन में प्रवेश मत होने दो। सदा आशावान् होकर रहो—'जीवन का यही दिव्य पथ है।'

६

अपने को पहचानो, मानव !

अपने जीवन के शान्त-क्षणों में एकान्त में बैठकर क्या कभी तुमने इस प्रश्न पर गम्भीरता के साथ विचार किया है कि—"कौन हूँ मैं ?"

क्या तुम मिट्टी हो ? नहीं, तुम मिट्टी होकर भी मिट्टी से महान् हो। क्या तुम जल हो ? नहीं, तुम जल होकर भी जल से महान् हो। क्या तुम आग हो ? नहीं, तुम आग होकर भी आग से महान् हो। क्या तुम पवन हो ? नहीं, तुम पवन होकर भी पवन से महान् हो !

क्यों ? इसलिए कि मिट्टी, पानी, आग और पवन, तत्त्व होकर भी वे जड़ हैं, परन्तु तुम तो जड़ से भिन्न एक चेतन तत्त्व हो। एक ज्योति हो, तुम ! एक प्रकाश हो, तुम ! एक भावना हो, तुम ! तुम क्या हो ? लो, सुनो—तुम क्या हो ? तुम अक्षर

हो, तुम अजर हो, तुम अमर हो ! तुम वही हो, जो न कभी बनता है, जो न कभी बिगड़ता है।

अपने लिए जितना तुम स्वयं सोच सकते हो, तुम्हारे लिए उतना अन्य कोई नहीं सोच सकता। जितना तुम स्वयं अपने आपको पहचान सकते हो, उतना अन्य कोई तुम को पहचान नहीं सकता। जो स्वयं अपने लिए कुछ भी नहीं सोचता, दूसरा कौन उसके लिए सोचेगा ? जो स्वयं अपने आप को नहीं पहचानता, दूसरा कौन उसको पहचानेगा ? जो स्वयं अपने भाग्य को ठुकराता है, फिर दूसरा कौन उसके भाग्य का आदर करेगा ? सत्य यह है, कि हम स्वयं ही अपने जीवन का निर्माण करते हैं, हम स्वयं ही अपने भाग्य को चमकाते हैं। सच्चा मनुष्य वही है, जो अपने को पहचानता है।

विश्वास करो, मानव ! तुम से महान् इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। तुम अमृत-पुत्र हो। तुम प्रकाश-पुञ्ज हो। तुम अनन्त-शक्ति-सम्पन्न हो। इस धरती पर तुम से महान् कौन है ? तुम सबसे महान् हो, क्योंकि सुर-लोक के देव भी तुम्हारे पावन चरणों की रज को अपने मस्तक पर लगा कर तुम को नमस्कार करते हैं।

हो सकता है, मेरी बात को सुनकर तुम हँसो और विचार करने लगो, कि मनुष्य में कौन-सी ऐसी विशेषता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके, कि मर्त्य-लोक का मनुष्य, अमर-लोक के सुरो से भी अधिक पावन और पवित्र है। क्या यह कोरी कल्पना नहीं है ? क्या यह अपने बड़प्पन की शेखी बघारना नहीं है ? पर, मैं अपनी बात दृढ़ विश्वास के साथ में कहता हूँ कि जो काम मनुष्य कर सकता है, उस काम को अमर-

लोक का अमर भी नहीं कर सकता। देव-जीवन केवल भोग के लिए ही होता है। परन्तु मनुष्य-जीवन में वह ताकत है कि वह भोग से त्याग की ओर भी जा सकता है। केवल मनुष्य को एक ही काम करना है—अपने को पहचानना है, और अपना अध्यात्म-चमत्कार दुनिया के कोने-कोने में फैलाना है। जो अपने-आप को पा गया, वह सब को पा गया, और सब कुछ पा गया। इसीलिए तो मैं कहता हूँ —क्या कभी तुम ने यह भी सोचा है—"कौन हूँ मैं ?"

तुम अपनी शक्ति को जानते नहीं, और कभी जानने का प्रयत्न भी नहीं करते। परन्तु अपने भाग्य को कोसना और भगवान् को दोष देना, तुमको खूब आता है। तुम कहते हो—मेरा भाग्य मेरा साथ नहीं देता। परन्तु तुम ने अपने भाग्य का साथ कितना दिया है, और कब दिया है। न जाने, कितनी बार तुम्हारा भाग्य तुम को जगाने आया, फिर भी तुम सोते ही रहे। फिर भी तुम अपने भाग्य को कोसते हो ! जो अपने को नहीं पहचानता, वह अपने भाग्य को कैसे पहचान सकेगा ? और, तुम यह भी रोना रोया करते हो कि भगवान् ने मेरे साथ न्याय नहीं किया। पर, मैं पूछता हूँ—तुमने स्वयं अपने साथ कितना न्याय किया है ? और फिर भगवान् है कौन ? तुम स्वयं ही तो भगवान् हो ! तुम आत्मा हो ! जो आत्मा है, वही तो परमात्मा है—"अप्पा सो परमप्पा।"

आप अमीर है, अथवा गरीब। कुछ भी क्यों न हों ? आप मनुष्य हैं, यही सब कुछ होना है। अपनी उस वर्तमान अवस्था को बदल डालो—जिसमें मुसीबतों की आँधी चल रही हो ! मनुष्य के लिए सदा मुसीबत में रहना, दुर्भाग्य की बात है।

तुम जो कुछ बनना चाहते हो, पूरी इच्छा-शक्ति के साथ उसका संकल्प करो। तुम जो कुछ प्राप्त करना चाहते हो—पूरा प्रयत्न करो, अवश्य प्राप्त करोगे। केवल स्वयं को पहचानने की आवश्यकता है। अपने उत्थान और पतन की बागडोर मनुष्य के अपने हाथ में है। अपने लिए सब से बड़ी चीज तुम स्वयं हो। तुमको कुचलने की ताकत किसी में नहीं है, यदि तुम्हारे मन में ऊपर उठने का वज्र संकल्प है, तो। सफलता का एक ही आधार है—'जीवन का एक लक्ष्य बना लो, फिर फौलादी कदमों से उस ओर चलते रहो, आगे बढ़ते रहो। सफलता जय-माला लेकर तुम्हारी राह निहार रही है। संसार तुम्हारे स्वागत को तैयार है। पर, स्वागत कराने की योग्यता तो अपने में पैदा करो।

सफलता के महामन्त्र की विधि मैं आपको बता रहा हूँ, जरा ध्यान से सुनो, और दृढ़ता से उस पर चलो—

एक शान्त और एकान्त स्थान पर, ध्यान मुद्रा में तन कर बैठ जाओ। फिर अपने मन में इस प्रकार की विचार-धारा को प्रवाहित होने दो, उसी प्रवाह में बढ़ते रहो—

"मैं कोन हूँ ? मैं अमृत हूँ। मैं मनुष्य हूँ। मैं सुन्दर हूँ। मैं स्वस्थ हूँ। मैं बलवान् हूँ। मैं विजेता हूँ। मैं अनन्त हूँ। मैं असीम हूँ। मैं सुख, शान्ति एवं आनन्द हूँ !"

प्रतिदिन इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य के मन की प्रसुप्त शक्ति जागृत होती जाती है। मनुष्य धीरे-धीरे अपने आप को पहचानने लगता है। जो अपने-आप को पा गया, वह सब को पा गया। जो अपने-आप को पहचान गया, वह सब कुछ ज़ान गया है।

विश्वास बदला कि विश्व बदल गया। दिशा बदली कि दशा बदल गयी। आपा बदला कि जग बदल गया। जो पाना चाहते हो, वह सब कुछ तो तुम्हारे अन्दर में ही छिपा हुआ है। उसे पहचानने का प्रयत्न करो।

७

बुद्धि : जीवन का दीपक

मनुष्य के पास यदि बुद्धि है, तो सब कुछ है और यदि बुद्धि नहीं है, तो सब कुछ होकर भी कुछ नहीं है। बुद्धि का अर्थ है—ज्ञान और विवेक।

प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन का उपयोग बुद्धि से करना चाहिए। बुद्धि किस के पास नहीं है? सब के पास में है। चेतना जगत् में मनुष्य से बढ़कर अन्य कौन बुद्धिमान है? मनुष्य के पास में सोचने को बुद्धि है, मनन करने को मन है, विचार को अभिव्यक्त करने के लिए वाणी है और विचार को आचार में लाने के लिए शरीर है। फिर मनुष्य के पास में कमी क्या है? जीवन के प्रत्येक कार्य में बुद्धि का उपयोग किया जाना चाहिए। पर, मनुष्य बुद्धि का उपयोग बहुत कम कर पाता है। हम प्राप्त-बुद्धि के बहुत थोड़े अंश का उपयोग करते हैं।

बुद्धि, आत्मा का दीपक है। इस दीपक का प्रकाश कभी धुँधला न पड़े, इस बात का सदा ध्यान रखो। इस प्रकाश के बिना हमारा जीवन व्यर्थ होगा। हमारा सब कुछ भले ही चला जाए, पर बुद्धि कभी हम से दूर न हो। बुद्धि होगी, तो सब कुछ रहेगा।

८

जावन-शुद्धि के प्रकार

मनुष्य अपने घर को साफ-सुथरा रखता है। कहीं पर गन्दगी पड़ी हो, कूड़ा-कचरा पड़ा हो और कागज-पत्ते पड़े हों, तो वह तुरन्त उनको साफ करने का प्रयत्न करता है। क्योंकि अपने घर में जरा भी गन्दगी उसको पसन्द नहीं है। घर की गन्दगी को वह अपनी गन्दगी समझता है, उसे अपमान समझता है। साफ-सुथरा और सफेदी से पुता हुआ मकान उसको पसन्द है। साफ मकान—सभ्यता का प्रतीक है।

अपने तन पर गन्दे कपड़े भी मनुष्य पसन्द नहीं करता। मैले-कुचैले कपड़े पहनना, वह अपना अपमान समझता है। कपड़े स्वच्छ हों, शुद्ध हों, चमकीले हों और सुन्दर हों। मलिन वस्त्र भी मनुष्य को पसन्द नहीं हैं। भोजन और जल भी शुद्ध, पवित्र और स्वच्छ होने चाहिए। गन्दा भोजन और गन्दा पानी, वह ग्रहण नहीं करता। भवन, भोजन और वसन—तीनों स्वच्छ और

साफ हों, तभी मनुष्य उनको पसन्द करता है और ग्रहण करता है।

क्या कभी मनुष्य यह भी विचार करता है कि—उसका मन कैसा है? उसकी वाणी कैसी है? उसका कर्म कैसा है? मन की गन्दगी, वाणी की अपवित्रता और कर्म की मलिनता का क्या कभी मनुष्य विचार करता है? नहीं करता। परन्तु उसे बाहरी स्वच्छता के साथ-साथ भीतरी स्वच्छता पर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। नहीं तो, तन के उजले, मन के मैले रहने से जीवन का सुधार नहीं हो सकेगा।

स्वच्छता तीन प्रकार की है—मन की, वाणी की और कर्म की। मन को पवित्र रखो, वाणी को स्वच्छ रखो और कर्म को शुद्ध रखो। मन की स्वच्छता इस प्रकार से रह सकती है—

१. क्रोध न करने से, शान्ति रखने से।
२. मान न करने से, नम्रता रखने से।
३. माया न करने से, सरलता रखने से।
४. लोभ न करने से, सन्तोष रखने से।
५. किसी की निन्दा न करने से।
६. किसी का अपमान न करने से।
७. किसी का बुरा न सोचने से।

मन की स्वच्छता का अर्थ है—'मन में किसी के भी प्रति राग, द्वेष, ईर्ष्या और बुरा विचार न रखना।'

वाणी की पवित्रता के लिए वाणी का संयम बहुत आवश्यक है। वाणी के संयम से मनुष्य को अनेक लाभ हैं। परस्पर में व्यर्थ का क्लेश, व्यर्थ का कलह और व्यर्थ के झगड़े नहीं होते हैं। वाणी की पवित्रता इस प्रकार से रह सकती है—

१. वाक् संयम से।
२. अल्प भाषण से।
३. प्रिय एवं सत्य भाषण से।
४. मधुर भाषण से।
५. मृदु एवं कोमल भाषण से।

मनुष्य कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। वह कर्मशील है, क्रियाशील है। आलस्य और प्रमाद का परित्याग करके उसे कुछ न कुछ सत्-कर्म करते ही रहना चाहिए। परन्तु उसके कर्त्तव्य-कर्म में पवित्रता होनी चाहिए। कर्त्तव्य-कर्म की पवित्रता इस प्रकार रह सकती है—

१. निष्काम-भाव पूर्वक कर्म करने से।
२. कर्म के फल की आसक्ति न करने से।
३. शुद्ध रीति-युक्त कर्त्तव्य-पालन से।
४. विवेक-पूर्वक क्रिया करने से।

१

जीवन के शत्रु

रोग, जीवन के शत्रु होते हैं। शरीर के रोग, शरीर को नष्ट करते हैं और मन के रोग, मन को कमजोर बनाते हैं। शरीर के रोगों का असर मन पर भी पड़ता है, और मन के रोगों का प्रभाव शरीर पर तो पड़ता ही पड़ता है। अतः रोग-मात्र हमारे शत्रु हैं—भले ही वे शरीर के हों और भले ही वे मन के हों। दोनों का उन्मूलन होना चाहिए।

रोगों से भरे इस मानव-जीवन में अनेक रोग इस प्रकार के हैं, जिनको हम रोग के रूप में पहचानते भी नहीं हैं, और वे निरन्तर हमारे जीवन को खोखला कर रहे हैं। वे हैं—'हरी, वरी और करी।' ये भयंकर रोग हैं, जो मनुष्य के जीवन को चाट जाते हैं। जीवन का सत्त्व खींच लेते हैं। जीवन की शक्ति का शोषण कर डालते हैं। बहुत ही भयंकर हैं, ये रोग। इसीलिए ये मानवता के शत्रु हैं।

सब से पहला शत्रु है—'हरी' (Hurry) अर्थात्—जल्दबाजी या उतावलापन। यह मनुष्य के मन का एक बहुत भयंकर रोग है। यह मनुष्य की बुद्धि, शक्ति और सम्मान का नाश करने वाला है। जल्दी का काम शैतान का होता है। किसी काम को जितने उतावलेपन से किया जाता है, वह सुधरता नहीं, बल्कि बिगड़ता है। इसका मूल कारण है—भय, हड़बड़ाहट, घबराहट, अधीरता और उतावलापन—ये सब भय की सन्तान हैं।

क्रम और व्यवस्था, जीवन की सफलता के मूल आधार नियम हैं। हर काम को व्यवस्था से और क्रम से करना चाहिए, भले ही कितनी भी देर क्यों न लगे। मनुष्य यह सोचता है कि जल्दी करने से काम जल्दी हो जाएगा। पर, यह उसका भ्रम है। जल्दबाजी से काम बिगड़ता ही है, सुधरता नहीं। जल्दबाज आदमी कहीं पर भी आदर नहीं पाता। अतः हर काम को क्रम से, धीरे से और धीरता के साथ करें, तब वह सुन्दर होगा।

दूसरा शत्रु है—'वरी' (Worry) अर्थात्—चिन्ता। चिन्ता सब से भयंकर मनोरोग है, मनुष्य का। 'चिन्ता' और 'चिता' में केवल एक बिन्दु का अन्तर है। परन्तु दोनों का काम एक ही है—जलाना। अन्तर इतना ही है, कि चिता मृत कलेवर को जलाती है, और चिन्ता जीवित मनुष्य को ही जला डालती है। अतः चिन्ता, चिता के समान है।

बहुत-सी बातें, जिनकी मनुष्य चिन्ता करता रहता है, अनहोनी होती हैं। यदि हो भी जाएँ, तो भी चिन्ता करने से क्या उनका कोई हल निकल सकेगा? कदापि नहीं! चिन्ता

करने से जीवन और अधिक संकट में फँस जाता है। चिन्ता की उत्पत्ति भी भय से होती है। चिन्ता को दूर करने से पूर्व भय को दूर भगाना होगा। 'मैं अभय हूँ, मैं शान्त हूँ'—इस प्रकार की भावना करने से धीरे-धीरे चिन्ता दूर हो सकती है।

तीसरा शत्रु है—'करी' (Curry) अर्थात्—मिरच और मसाले। मनुष्य के जीवन पर भोजन का गहरा प्रभाव पड़ता है। उसके शरीर पर भी और उसके मन पर भी। मिरच और मसाले जीवन शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट करते हैं, क्योंकि मसाले बहुत गरम और उत्तेजना देने वाले होते हैं। दिन-रात चटपटी, मसालेदार और खट्टी-मीठी चीजें खाने से अंतड़ियाँ कमजोर हो जाती हैं और पाचन-क्रिया मन्द पड़ जाती है। भूख कभी खुल कर नहीं लगती। लाल मिरच तो ब्रह्मचर्य के लिए बहुत ही भयंकर विष है। मसालेदार भोजन से वीर्य का क्षरण हो जाता है। अतः जीवन की रक्षा के लिए 'करी' का, मिरच-मसाले का परित्याग कर देना चाहिए।

जरा साहस के साथ में 'हरी, वरी और करी'—इन तीन शत्रुओं से युद्ध करो। निश्चय ही वे हारेंगे, आप जीतेंगे।

१०

मुस्कान : एक कला

किसी की हँसी करना, किसी का मजाक उड़ाना बुरा है—वहुत बुरा है। परन्तु इससे भी बुरा है—गमगीन रहना, सुस्त रहना। जिस इन्सान के चहरे पर उदासी रहती है, वह अपने काम में कभी सफल नहीं होता। जो आदमी रोता हुआ जाता है, वह मरे की खबर लेकर ही लौटता है।

जो मुख सदा गुलाब की तरह हँसता है, उसको सब प्यार करते हैं। प्रसन्न-मुख व्यक्ति जहाँ कहीं पर भी पहुंच जाता है, वहाँ पर एक सुन्दर वातावरण पैदा कर देता है। उसके मुख की मुस्कान सब को प्रसन्न कर देती है। गम्भीर और गमगीन वातावरण हँसी-खुशी में बदल जाता है। मुस्कान एक जादू है, मुस्कान एक कला है। सामाजिक और पारिवारिक जीवन को सुन्दर, मधुर और सरस बनाने के लिए मुस्कान बहुत आवश्यक है।

मानसिक स्वस्थता के लिए सब से आवश्यक है—प्रसन्न-चित्त रहना। प्रसन्न-मुखी व्यक्ति उन लोगों से अधिक सफल रहते हैं, जो सदा ही गम में एवं उदासी में डूबे रहते हैं। मनुष्य अपने मन का प्रतिविम्ब है। जैसा उसका मन रहेगा, वैसा ही उसका चेहरा रहेगा। मनुष्य की सफलता का बहुत कुछ आधार उसकी मानसिक दशा पर है। जीवन जीने की कला का रहस्य है—प्रसन्नता, उल्लास एवं मुस्कान।

क्रोध, भय, चिन्ता और ईर्ष्या—ये सब मन के रोग हैं। इन रोगों से ग्रस्त मन, न कभी स्वस्थ रहेगा और न कभी प्रसन्न। जिस प्रकार शरीर के रोगों से शरीर पीला पड़ जाता है, उसी प्रकार मानसिक रोगों से मन म्लान हो जाता है। क्रोध, भय, चिन्ता और ईर्ष्या आदि मानसिक रोगों की एकमात्र राम-बाण दवा है—प्रसन्न चित्त रहना, मुस्कराना और मुस्कराहट। मुस्कान एक वह दवा है, जो आपके सुस्त चेहरे पर से उक्त रोगों के निशान ही नहीं मिटाती, बल्कि उक्त रोगों की जड़ को भी आपके मन से निकाल देगी।

आप जब कभी अपने किसी स्नेही व्यक्ति से मिलते हैं, तब केवल आप मुस्करा-भर देते हैं। जो प्यार एक मुस्कान द्वारा व्यक्त होता है, वह नमस्कार के द्वारा भी नहीं हो सकता। थका-थकाया व्यक्ति, दिन-भर के श्रम से क्लान्त होकर संध्या को जब घर लौटता है, तब वह अपनी पत्नी की एक मुस्कान पर और अपने प्यारे बच्चों की मुस्कराहट पर अपना सारा श्रम भूल जाता है। जब कोई भाई कोसों की यात्रा करके मार्ग के श्रम से चूर-चूर होकर अपनी बहिन के घर पहुँचता है, और वहाँ अपनी बहिन के चेहरे पर अपने आगमन की मुस्कान देखता है, तब वह अपने

सम्पूर्ण श्रम को भूल कर वहिन के स्नेह में आत्म-विभोर हो जाता है। यह है, मुस्कान का चमत्कार। जब कोई व्यक्ति किसी की क्रुद्ध दृष्टि से भयाकुल हो सकता है, तब क्या वह किसी की मुस्कान से प्रसन्न न होगा? क्रोध की अपेक्षा प्रेम का प्रभाव मन पर अधिक गहरा होता है, अधिक प्रभावक होता है। मुस्कराने में सम्भवतः मुश्किल से एक क्षण लगता है, पर उसकी याद जीवन-भर रह जाती है। मुस्कराने में आपका कुछ खर्च भी तो नहीं होता, पर जिसे आपकी मुस्कान मिलती है, उसके मन में आपके प्रति प्रेम का सागर तरंगित होने लगता है—अजब ताकत है, आपकी एक क्षण-भर की मुस्कान में।

जीवन के युद्ध को, जीवन के संघर्षों को मुस्कान से जीतने की कला सीखो। भयंकर से भयंकर संकट में भी यदि आप अपनी मुस्कान को अपने मुख पर से गायब नहीं होने देते हैं तो निश्चय ही आप अपनी जिन्दगी के बादशाह हैं।

प्रभात वेला में, जब आप सोकर उठे-जागें, तब अपने समस्त परिवार पर मधुर मुस्कान की एक किरण बिखेर दीजिए। फिर देखिए, आपको एक साथ कितनी मुस्कराहट मिलती है? पत्नी मुस्करा कर आपका स्वागत कर रही होगी। बच्चे भी मुस्कराहट की किलकारियाँ भर कर आपको प्यार करने के लिए बेताब हो उठेंगे। माता और पिता प्रेम भरे स्वर में शुभाशी देंगे। भाई और बहिनें स्नेह की बौछार करेंगे। घर के दास-दासी आपके कृतज्ञ होकर रहेंगे। आपकी एक मुस्कान ने सारा वातावरण ही बदल डाला।

बैठे रहें, सुस्त होकर पड़े रहें—इसमें न आपकी शान है, और न आपका मान है। जग हँसता है, हँसने वालों पर। जग रोता है, रोने वालों पर। आपकी मधुर मुस्कान से यदि जग का एक भी पीड़ित व्यक्ति मुस्करा उठा, तो आपका जीवन सफल है।

११

जवानी और बुढ़ापा

हर इन्सान यह चाहता है कि मेरी जवानी सदा बनी रहे, मुझे बुढ़ापा कभी न आए। बुढ़ापा एक रोग है, बुढ़ापा एक भय है और बुढ़ापा एक अमंगल है, तभी तो हर इन्सान इससे परेशान है। परन्तु जवानी को सभी प्यार करते हैं। सभी चाहते हैं कि वह आकर कभी न लौटे। सब उसको जीवन के लिए मंगलमय एवं सुन्दर वरदान समझते हैं।

पर, क्या कभी किसी ने विचार भी किया कि जवानी है क्या चीज ? जवानी, जीवन की एक विशेष अवस्था का नाम है। वह समय नहीं, काल नहीं, एक अवस्था विशेष है। वस्तुतः जीवन को सदा भरा-पूरा अनुभव करना ही—जवानी है। उभरे गाल, लाल ओठ, सुघर बाहें, सुघड़ देह और काले बाल—मात्र ये ही जवानी नहीं है, भले ही ये जवानी के बाहरी प्रतीक हो सकते हों।

जवानी इच्छा-शक्ति का एक प्रकार है, कल्पना की एक उड़ान है, विचारों का एक विशेष वहाव है। जवानी मन की एक ताजगी का नाम है। जवानी का अर्थ—निर्भयता, साहस, कुछ नया कर्म करने और नया रास्ता पकड़ने की एक धुन। नया-नया अनुभव करने की भूख को जवानी कहते हैं। इस प्रकार की भूख एक बीस वर्ष के तरुण की अपेक्षा पचास वर्ष के अधेड़ व्यक्ति में अधिक तीव्र हो सकती है। समय की धारा—जो प्रतिपल वह रही है, आपके ऊपर से वह जाए और आप बूढ़े हो जाएँ। क्या यही आपको पसन्द है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिए। इन्सान बूढ़ा तब होता है, जब उसमें कोई नया कर्म करने की शक्ति नहीं रहती।

शरीर का बुढ़ापा उतना भयंकर नहीं होता, जितना मन का होता है। दिल से जोश निकल गया, तो समझिए कि आप बूढ़े हो चुके हैं। फिर भले ही आप बत्तीस वर्ष के पूरे नौजवान ही क्यों न हों ? फिक्र, परेशानी और हैरानी—इन्सान को समय से पहले ही बूढ़ा बना देती हैं। चिन्ता, भय, शोक और विषाद के मानसिक बोझ से मनुष्य की गरदन झुक जाती है, कमर की कमान बन जाती है और मन का मोती धूल में मिल जाता है।

जीवन एक खेल है। कभी हार होती है, तो कभी जीत होती है। हमारे जीवन की सब से बड़ी कमजोरी यह है कि हम जीत को भुला देते हैं और अपनी हार को सदा याद कर-करके रोया करते हैं, कल्पना किया करते हैं। और यही तो बुढ़ापा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी हार को भूलकर अपनी जीत को ही याद रखें।

इस बात को आप सदा याद रखिए कि आपके मन में जितना यौवन है, आप उतने ही जवान हैं। आप में अपनी जवानी के प्रति जितना गहरा विश्वास है, आप उतने ही जवान है। आपका मन जितना शक्तिशाली होगा, आप उतने ही जवान हैं।

१२

शान्ति : आज के युग की माँग

आज की दुनिया की सबसे पहली और साथ ही सब से बड़ी माँग है—'शान्ति।' व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र—आज सभी शान्ति की कामना कर रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व में, आज शान्ति की बात को लोग प्रेम के साथ सुनने को तैयार हैं। परन्तु युद्ध से वे सब नफरत करते हैं। जो राष्ट्र आज युद्ध की बात करता है, उसकी बात को जनता सुनना पसन्द नहीं करती। इस पर से स्पष्ट है कि आज की जनता युद्ध नहीं, शान्ति चाहती है। युद्ध का विनाशकारी परिणाम वह देख चुकी है। शान्ति का विकाश अब देखना चाहती है। अतः जनता की माँग है—'शान्ति।'

'शान्ति' की परिभाषा करते हुए एक विद्वान ने लिखा है—

"शान्ति, ज्ञान का एक सुन्दर रत्न है। यह आत्म-संयम में दीर्घकालीन अभ्यास और प्रयत्न का मधुर फल है। शान्ति, विचार और अनुभव का परिपक्व फल है।"

शान्ति की उपासना करने वाला शान्त व्यक्ति अपने पर शासन करके दूसरों के साथ में प्रेममय व्यवहार करता है। मनुष्य जितना ही शान्त बन जाता है, उसका प्रभाव उतना ही अधिक बढ़ जाता है। क्रुद्ध व्यक्ति अपने कठोर आदेश से जो कराना चाहता है, उसकी अपेक्षा शान्त व्यक्ति अपने प्रेम से हजार गुना काम करा सकता है।

शान्ति कहाँ हैं? महलों वाले शान्ति को झोंपड़ियों में खोजते हैं, और झोंपड़ी वाले उसे महलों में तलाश करते हैं। गरीब कहता है—शान्ति धन में है। परन्तु धनवान्, धन पाकर भी उस गरीब से अधिक अशान्त रहता है। सत्ता-हीन समझता है—शान्ति सत्ता में है। किन्तु सत्ताधीश सत्ता को प्राप्त करके भी उस सत्ताहीन से अधिक अशान्त है।

फिर शान्ति है कहाँ? शान्ति भोग में नहीं, संयम में है। शान्ति विलास में नहीं, त्याग में है। जो व्यक्ति शान्ति की खोज संग्रह में करते हैं, उनके हाथ में विग्रह ही आएगा, शान्ति नहीं। जीवन में अहिंसा, विचार में अनेकान्त और समाज में अपरिग्रह की भावना आए बिना शान्ति नहीं मिलेगी।

विचार करने पर यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि शान्ति कहाँ है? शान्ति का निवास कहीं बाहर नहीं है, उसका वास तो मनुष्य के मन में, मनुष्य की बुद्धि में है। क्रोध आत्मा का विभाव है और शान्ति आत्मा का स्वभाव है। अति-सुख भी मनुष्य को अशान्त करता है, और अति-दुःख भी मनुष्य को परेशान करता है। दोनों का समत्व ही शान्ति का मार्ग है। अभाव में से अति-दुःख फूटता है, और अति-भाव में से अति-सुख फैलता है। दोनों में ही शान्ति का वास नहीं है। अतः शान्ति के लिए

समभाव की बड़ी आवश्यकता है। विना समभाव के शान्ति कभी पनप नहीं सकती। जब जीवन में समभाव आता है, जब जीवन में समरसता आती है, तब जीवन के कण-कण से शान्ति का मधुर संगीत झंकृत होता है।

शान्ति की उपासना करने वाला व्यक्ति सदा शान्त, मधुर और गम्भीर रहता है। उसके जीवन की तुलना शान्त सागर से, निर्मल चन्द्र से और मरुभूमि के हरे-भरे वृक्ष से की जाती है। शान्ति, जीवन का एक मधुर वरदान है और क्रोध जीवन का एक दारुण अभिशाप है।

शान्ति का अर्थ है – 'सहिष्णुता।' परन्तु सहिष्णुता समभाव के विना टिक नहीं सकती। अतः समभाव ही शान्ति का मूल आधार है। जीवन में जितना समभाव आता है, मनुष्य उतनी ही तेजी से शान्ति की ओर अग्रसर होता है।

१३

शिक्षा और दीक्षा

छात्र-जीवन का विकास दो तत्त्वों पर आधारित है—'शिक्षा और दीक्षा !'

शिक्षा, अर्थात् ज्ञान के अभाव में जीवन अन्धकारमय है। जीवन का लक्ष्य क्या है? जीवन का उद्देश्य क्या है? यह स्थिर हो जाने पर मनुष्य अपने सत्प्रयत्न से अपने लक्ष्य पर भी जा पहुँचता है। लक्ष्य स्थिर करना– यह शिक्षा है, और उस लक्ष्य पर पहुँच जाना –दीक्षा है।

आप छात्र हैं। आप अपने जीवन के राजा हैं। अपने जीवन के स्वयं निर्माता हैं। अपना उत्थान और पतन, अपना विकास और ह्रास, अपनी उन्नति और अवनति—आपके अपने हाथ में है। आप राष्ट्र की आशा हैं। आप समाज की शक्ति हैं। आप अपने परिवार के मधुर स्वप्न हैं। माता के दुलारे, पिता के लाड़ले और भाई-वहिनों के सच्चे सहयोगी हैं।

शिक्षा से आप विनम्र बनें और दीक्षा से कर्मठ एवं कठोर। कर्त्तव्य-पालन में कठोर, चट्टान से भी कठोर बनें। दूसरों की सेवा में विनम्र बनें, और कुसुम से भी कोमल। जीवन में नम्रता और सहिष्णुता—दोनों गुणों के विकास की आवश्यकता है।

जीवन को सरस, सुन्दर एवं मधुर बनाने के लिए आपको निम्नांकित तीन सूत्रों पर गम्भीरता से विचार करके तदनुकूल जीवन व्यतीत करना चाहिए—

१—मातृ-देवो भव,

२—पितृ-देवो भव,

३—आचार्य-देवो भव।

उपर्युक्त तीनों सूत्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१—**मातृ देवो भव**—माता की सेवा करना, माता की आज्ञा का पालन करना, और माता की भक्ति करना।

२—**पितृ देवो भव**—पिता की सेवा करना, पिता के आदेश का पालन करना, और पिता की भक्ति करना।

३—**आचार्य देवो भव**—अपने अध्यापक के अनुशासन का पालन करना, अपने शिक्षक की शिक्षा को मानना, और अपने अध्यापक के आदेश का पालन करना।

आप अपने जीवन में विचार और आचार—दोनों का समान भाव से विकास करो। ज्ञान का प्रकाश और आचार की शक्ति लेकर जीवन-समर में जूझ पड़ो। आगे बढ़ने के लिए साहस, और मोर्चे पर डटे रहने के लिए दृढ़ता—आपके मन के कण-कण में समा जानी चाहिए।

सुखी होना आपका अधिकार है, परन्तु दूसरों के दुःख पर अपने सुख-प्रासाद की नींव न डालो। अपना विकास करो, परन्तु दूसरों को हानि पहुँचा कर नहीं। आगे अवश्य बढ़ो, परन्तु अपने साथियों को गर्त में गिराकर नहीं।

आप स्वयं भी सुखी बनो, अपने साथी-संगियों को भी सुखी बनाओ। सेवा, सहयोग और सहानुभूति—इन तीन बातों पर अवश्य ही ध्यान दो। इससे आपको महान् बल मिलेगा।

आपकी 'शिक्षा और दीक्षा' का यही सार तत्त्व है।



१४

मनुर्भव मनुष्य

मानव-जीवन में धर्म एक मुख्य वस्तु है। धर्म के अभाव से मनुष्य की क्या स्थिति होगी ? जब तक मनुष्य में मनुष्यत्व नहीं, तब तक वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी कैसे हो सकता है ! मान लीजिए, वह स्वयं अपने-आप को मनुष्य कह बैठे। पर आप उसे क्या कहेंगे ? पशु या कुछ और !

आपके सम्मुख दो बरतन रखे हैं—एक में जल है, और दूसरे में आग ! यदि आप से कोई पूछे कि दोनों बरतनों में क्या है, तो आप क्या उत्तर देंगे ? यही कि इसमें जल है, और इसमें आग। मैं आप से पूछता हूँ कि आप आग को आग क्यों कहते हैं, जल या और कुछ क्यों नहीं कह देते ? इसी प्रकार जल को जल क्यों कहते हैं, उसे आग क्यों नहीं कह देते ?

आप कह सकते हैं कि आग में उष्णत्व है, इसलिए हम उसे आग कहते हैं। इसी प्रकार जल में शीतलत्व है, अतः हम उसे जल

कहते हैं। परन्तु मैं पूछता हूँ कि यदि आग में से उष्णत्व निकल जाए, तो क्या आप उसे आग कह सकेंगे? नहीं! क्योंकि हम उसे आग तभी तक कह सकते हैं, जब तक उसमें उष्णत्व-धर्म मौजूद है। इसी प्रकार जब तक जल में शीतल-धर्म है, तभी हम उसे जल कहते हैं।

अस्तु, बिना धर्म के वस्तु की स्थिति नहीं रह सकती। विश्व के सभी पदार्थ यदि अपने-अपने धर्म से रहित हो जाएँ, तो क्या विश्व स्थिर रह सकेगा? नहीं, कदापि नहीं! इसलिए विश्व की स्थिति के लिए धर्म अनिवार्य ठहरा।

अब रही, मनुष्य की बात! यदि मनुष्य में मनुष्यत्व नहीं है, तो क्या हम उसे मनुष्य या मानव कह सकेंगे? नहीं, कदापि! नहीं। विश्व में असंख्य मनुष्य हैं। पर, क्या उन सब में मानवता या मनुष्यता विद्यमान है? यदि हाँ, तो फिर यह खून की होली किस लिए खेली जा रही है! क्या मनुष्यता का यही लक्षण है कि हम राज्य-लिप्सा के लिए या कुछ अपने स्वार्थों के लिए निरीह मनुष्यों का खून बहा दें! हमारे कुछ भाई तो आनन्द और उल्लासपूर्ण जीवन बिताएँ, और लाखों या करोड़ों मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों से अभिभूत होकर यमराज का आतिथ्य अंगीकार करें?

यह भी कोई मानवता है! यदि आज की दुनिया में मानवता का यही मूल्य है, तो इस मानवता से तो वह पशुता ही भली, जिसमें परस्पर स्नेह-सरिता की पावन धाराएँ बह रही हों। श्वान भी कुछ दिनों के परिचय के बाद अपने साथी की जीवन-यात्रा में बाधक नहीं बनता। इधर इन प्रभुत्वाभिमानी मनुष्यों

को देखिए, जो अपने स्वार्थ के लिए सहोदर का भी गला काटने में नहीं हिचकिचाते ।

एक दिन ऋषि ने—एक वैदिक ऋषि ने अपना हृदय शब्दों में उँडेल कर कहा था—"मनुर्भव मनुष्य ।" ओ, मनुष्य, तू मनुष्य बन जा ! भगवान् महावीर ने भी एक दिन लाखों मनुष्यों के बीच में कहा था—"माणुसक्खं सुदुल्लहं ।"अर्थात्—'मनुष्य बनना बड़ा दुर्लभ है ।' पर, यह क्यों ? क्या वे लाखों या करोड़ों मनुष्य, मनुष्य नहीं थे ! क्या आज भी विश्व में—इस अरबों के विश्व में मनुष्यों की कमी है ! फिर—"ओ, मनुष्य, तू मनुष्य बन जा ! मनुष्य बनना बड़ा दुर्लभ है ।" यह उद्घोषणा क्यों ? इसमें रहस्य क्या है ?

इसका यही रहस्य है कि—मानव, तू अपने मानवत्व-धर्म को पहचान ! मानवत्व या मनुष्यत्व-धर्म के बिना मानव या मनुष्य कैसा ? हाथ-पैरों से या शरीर से मनुष्य होना, एक बात है और हृदय से मनुष्य बनना दूसरी । इस दुनिया में जो अपने को आज सभ्य समझते हैं—हृदय से कितने मनुष्य हैं ? उनमें मनुष्यत्व कहाँ तक है ? आज की दुनिया में शरीर से तो अरबों या इससे भी अधिक मनुष्य मिल सकते हैं । परन्तु वास्तविक मनुष्य, जिसमें मनुष्यत्व रहा हुआ है—कितने हैं ? बहुत कम ! लाखों में से दो-चार ही मिलेंगे । इसीलिए तो भगवान् महावीर ने कहा है कि—"मनुष्य बनना बड़ा दुर्लभ है ।" यह उद्घोषणा बिल्कुल सत्य है ।

अस्तु, मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनने के लिए, भगवान् महावीर ने सब से पहले चार बातें सीख लेना आवश्यक बतलाया है । ये चार शिक्षाएँ मनुष्यत्व की प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधन

हैं। विना इनके मनुष्य में मनुष्यत्व आना असम्भव है। वे चार शिक्षाएँ ये हैं—

१. प्रकृति-भद्रता—सहज सौम्यता, अर्थात्—जीवन को इतना सरस एवं सुन्दर वनाना जिसमें छल, कपट और वंचना न हो। किसी के साथ विश्वासघात या धोखा नहीं करना।

२. प्रकृति-सरलता—सब के साथ मधुर एवं प्रिय भाषण करना। किसी के प्रति कटु व्यवहार न करना। किसी के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना, जिससे उसको कष्ट हो।

३. सानुक्रोशता—अनुकम्पा, अर्थात् - दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति या दया-भाव रखना। किसी भी निरपराधी मनुष्य को दुःख न पहुँचाना। सब के साथ आत्मीय-जनों जैसा सद्-व्यवहार करना। पर-सेवा के लिए सदा तत्पर रहना।

४. अमत्सरता—निरभिमानता, अर्थात्–अपनी बुद्धि, विद्या या वल का अहंकार न करना। अहंकार से अपने संगी-साथियों का तिरस्कार न करना। उन्हें हीन-दृष्टि से न देखना। अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा न समझना। अपने आप को विद्वान् और दूसरों को मूर्ख न समझना।

अपने जीवन को सरस, सुन्दर और आकर्षक बनाना ही सच्ची मनुष्यता है। सच्चा मानव बनने के लिए यह आवश्यक है कि है कि हम अपने हृदय को विराट् एवं उदार बनाएँ। परिवार, समाज और देश के हितों का दुरुपयोग स्वयं न करें और करने वालों से उनकी रक्षा करें। स्वयं जीवित रहें और दूसरों के जीवन में सहायक बनें। सन्त फ्राँसिस के शब्दों में मानवता की परिभाषा सुनिए—

"भगवान्, दया करके मुझे यह शक्ति दे कि किसी को मैं कष्ट न दूँ। लोग मुझे समझें, इसकी जगह मैं ही उन्हें समझूँ। इसके बजाय कि लोग मुझे प्यार करें, मैं ही उन्हें प्यार करना सीखूँ। द्वेष की जगह मुझे प्रेम के बीज बोने दे। अत्याचार के बदले में क्षमा, सन्देह के बदले में विश्वास, निराशा के स्थान पर आशा, अन्धकार की जगह प्रकाश और विषाद की भूमि में आनन्द करने की शक्ति मुझे प्रदान कर, जिससे मैं दूसरों का भला करूँ।"

अन्त में हम यही कहेंगे कि सच्ची मनुष्यता प्राप्त करने के लिए हमें प्रभु से इन शब्दों में प्रार्थना करनी होगी—

"खुश रहना खुश रखना, जीना और जिलाना।
नाथ! मेरे जीवन का—बस, एक यही हो गाना॥"

१५

चारित्र-बल

मनुष्य का स्वभाव न तो अपने-आप अच्छा होता है, और न बुरा। जैसा वातावरण होता है, वैसा ही उसका स्वभाव बनता है और बिगड़ता रहता है। मनुष्य के स्वभाव-निर्माण में और चारित्र-निर्माण में उसका संकल्प एवं उसकी इच्छा-शक्ति का बहुत बड़ा हाथ रहता है। मनुष्य के जीवन की विशेषता उसके अच्छे चारित्र-विकास में है। 'चारित्र' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक एवं विशाल है। इसमें समस्त मानवीय सद्‌गुणों का समावेश हो जाता है। त्याग, तपस्या, वैराग्य, सहिष्णुता, कर्त्तव्य और प्रेम आदि अनेक गुणों का परिबोध 'चारित्र' शब्द से सहज हो जाता है।

यदि मनुष्य में चारित्र नहीं है, तो सब कुछ होते हुए भी वह खोखला है। ज्ञान जब क्रिया में उतरता है, तब वह चारित्र बनता है। आचार-हीन विचार कभी-कभी बहुत भयंकर सिद्ध होता है।

जो तत्त्व मनुष्य-जीवन को पशु जीवन से भिन्न करता है, उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र, सदाचार और आचरण—इन सब का एक ही अर्थ है। चारित्र को तेजस्वी बनाने के लिए मनुष्य को आत्म-शोधन और आत्म-परीक्षण की बहुत बड़ी जरूरत है। चारित्र-शील व्यक्ति सदा निर्भय रहता है। उसके मन में किसी प्रकार का भय नहीं होता। क्योंकि भय का जन्म पाप से होता है, चारित्रवान् मनुष्य पाप से विमुक्त रहता है।

एक मनुष्य बहुत दान करता है, परन्तु जितना वह दान करता है, उससे भी बहुत अधिक वस्तु उसके पास बच रहती है। दूसरा व्यक्ति बहुत थोड़ा देता है, किन्तु उसके पास इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं बचा है। निश्चय ही एक ने बहुत देकर भी कुछ नहीं दिया, और दूसरे ने थोड़ा देकर भी सब कुछ दे डाला है। त्याग का सम्बन्ध वस्तु से नहीं, मनुष्य की भावना से है। दान और त्याग—चारित्र के मुख्य अंग हैं।

आपने इतिहास में पढ़ा होगा कि राणा प्रताप ने कितने कष्ट सहन किए थे। यह चारित्र-बल का ही प्रभाव था कि राणा प्रताप जीवन-भर वन, पर्वत और जंगलों में घूमते और धूल छानते रहे, कष्ट उठाते रहे, पर अपने आदर्श को नहीं छोड़ा। राजपूताने की हजारों नारियाँ जौहर-कुण्ड में कूद कर मर गईं, पर उन्होंने अपना सतीत्व नहीं छोड़ा। गुरु गोविन्द सिंह के जीवित पुत्रों को दीवार में चिन दिया गया, पर उन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा। आखिर, यह सब क्या है? यह सब आत्म-बल है, और यह चारित्र के पालन से ही आता है। चारित्र निष्ठ व्यक्ति सत्ता, सम्पत्ति और सम्मान—सब कुछ छोड़ सकता है, पर चारित्र को वह कभी नहीं छोड़ सकता।

चारित्र-बल ही मनुष्य संस्कृति का ज्योतिर्मय दीपक है, जिससे मनुष्य का जीवन आलोकित रहता है। चारित्र ही मनुष्य को असत्य से हटा कर सत्य की ओर, अन्धकार से हटाकर प्रकाश की ओर, तथा मरण से हटाकर अमरता की ओर ले जाता है।

एक मनुष्य जानता बहुत कुछ है, पर उसके अनुसार आचरण नहीं कर सकता। दूसरा जानता तो बहुत थोड़ा है, पर जितना जानता है, उतने को आचरण में उतारने का प्रयत्न करता है। दोनों में श्रेष्ठ कौन है? निश्चय ही जो ज्ञान को क्रिया में ढालता है, जो विचार को आचार में ढालता है। मनुष्य अपने जीवन में जो भी महान् कार्य करता है, उसकी सफलता उसके चारित्र-बल पर ही आधारित है।

१६

जीवन : एक कला

सौन्दर्य क्या है, और उसका अनुभव हम किस प्रकार कर सकते हैं ? इसके बारे में भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं। परन्तु हमे विचारों के भ्रम-जाल में न फँस कर सूक्ष्म-बुद्धि से सौन्दर्य के महत्व को समझना है।

वास्तव में सौन्दर्य एक अनोखा तत्त्व है, जो हमारे चित्त को आकर्षित करता है। सौन्दर्य केवल आँखों से देखने की दर्शनीय वस्तु ही नहीं है, बल्कि वह सूर्य की किरणों की तरह जग-जीवन के हरेक पहलू को सूक्ष्मता से स्पर्श भी करता है।

सौन्दर्य में यह शक्ति है, कि वह मानव-चित्त पर अपने प्रभाव की अमिट छाप लगाता है, और इसीलिए सौन्दर्य का प्रभाव प्राणि-मात्र पर इतना होता है कि वह किसी भी हालत में उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। सौन्दर्य में वह दिव्य-चमत्कार होता है कि वह मुरझाए मन को भी एक पल में उसी प्रकार

नव-चेतना देकर उल्लासपूर्ण बना देता है, नयी तरंग भर देता है, जिस प्रकार से एक बुझते हुए दीप को स्नेह-दान पुनः विकसित करता है।

अपने अनुपम गुण के कारण सौन्दर्य एक सात्विक-तत्त्व है। वह अन्धकार नहीं, प्रकाश है। वह वासना का प्रेरक नहीं, शाश्वत प्रेम का प्रतीक है। आज की भौतिकवादी धारणा और आधुनिकता के अनुराग-वश जो सौन्दर्य को वासना का प्रेरक मानते हैं, उनकी मान्यता रूप-दर्शन तक ही मर्यादित है।

इसके विपरीत जो सौन्दर्य को गुण-ग्राही दृष्टि से देखते हैं, उनकी मान्यता के अनुसार सौन्दर्य भोग-लिप्सा को सहन नहीं कर सकता, क्योंकि वासना-जन्य भोग सौन्दर्य के गुण-धर्म के विपरीत हैं। सौन्दर्य का विकास—पवित्रता, उदारता और पूजनीय भावों में ही सम्भव है। सौन्दर्य का यह दिव्य-रूप विश्व-कल्याण के संवर्धन में और मानव-मात्र का उत्थान करने में समर्थ एवं मंगलमय सिद्ध होता है।

समस्त कलाओं का मूल—सौन्दर्य है। सौन्दर्य-तत्त्व की उद्दीपन शक्ति के बिना विश्व में किसी भी कला का सृजन संभव नहीं है। स्थिति, काल और अवसर पाकर सौन्दर्य-तत्त्व ने अनेक महा-पुरुषों को दिव्यत्व प्रदान किया है। विश्व-वन्द्य बापू में हृदय की कोमलता और उदारता के रूप में सौन्दर्य की जो उद्भावना हुई, उसने क्रूर राजनीति में भी विश्व-कल्याण के लिए मानव को अहिंसा का अजस्र अस्त्र दिया और हँसते-हँसते अपने वक्षःस्थल में गोली खाने में भी यशस्वी और तेजस्वी हो सके।

सौन्दर्य स्वभावतः लज्जाशील होता है। सौन्दर्य का विकास और समपर्ण वहीं सम्भव है, जहाँ उसे निश्चल और निर्विकार

आत्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति मन और तन के माध्यम से ही होती है। धर्म-साधना का आधार भी तो यह तन ही है। चिन्तन का आधार मन है। अतः चिन्तन के लिए मन का और धर्म-साधना के लिए तन का स्वस्थ रहना बहुत ही आवश्यक है, स्वस्थता परम धर्म है।

मन की स्वस्थता के आधार तीन हैं—प्रसन्नता, शान्ति, और स्थिरता। मन में सदा प्रसन्नता रहे, मन में सदा शान्ति रहे, और मन में सदा स्थिरता-एकाग्रता रहे, तो मन स्वस्थ रह सकता है। काम, भय और चिन्ता—ये मन की प्रसन्नता का अपहरण करते हैं। क्रोध, मान और ईर्ष्या—ये मन की शान्ति को भंग करते हैं। हीन-भाव, शोक और वासना—ये मन की स्थिरता-एकाग्रता को नष्ट करते हैं। मन को स्वस्थ रखने के लिए उक्त विकारों को नष्ट करना ही होगा, तभी मन स्वस्थ रह सकेगा। स्वस्थ मन की क्रियाओं का तन पर भी बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

तन की स्वस्थता का आधार है—आहार और विहार। आहार का अर्थ है—भोजन, और विहार का अर्थ है—रहन-सहन। मनुष्य क्या खाता है? कितना खाता है? कब खाता है? इस सम्बन्ध में वैद्यक ग्रन्थों में कहा गया है कि जो मनुष्य हितभुक् और मितभुक् रहता है, वह कभी वैद्य के द्वार पर नहीं जाता है, क्योंकि तन के रोग अधिकांशतः भोजन से उत्पन्न होते हैं। परन्तु जो व्यक्ति पथ्य-भोजन और अल्प-भोजन करता है, वह कभी बीमार ही क्यों पड़ेगा? और उसे वैद्य के घर जाने की आवश्यकता भी क्यों पड़ेगी?

सोमदेव सूरि ने भी अपने एक ग्रन्थ में कहा है—"यो मितं

भुङ्क्ते, स बहु भुङ्क्ते।" जो कम खाता है, वह बहुत खाता है। परिमित भोजन करने वाला व्यक्ति स्वस्थ रहता है, बलवान् रहता है और दीर्घ-जीवी रहता है।

भगवान् महावीर ने भोजन-संयम पर बहुत बल दिया है। उन्होंने कहा है कि साधक को मात्रज्ञ होना चाहिए, अपने भोजन का परिमाण जानने वाला होना चाहिए। 'मियं कालेण भुंजए। समय पर और थोड़ा भोजन करे। जो व्यक्ति 'सूर्य-प्रमाण भोजी' होता है, सुबह से शाम तक चरता ही रहता है, वह आत्म-साधना नहीं कर सकता।

बुद्ध ने भी भोजन-संयम के विषय में कहा है कि—"जो व्यक्ति अपने भोजन की मात्रा का परिज्ञान नहीं रखता है—उसके मन की बुरी वृत्ति उसको वैसे ही पीड़ित करती है, जैसे दुर्बल वृक्ष को पवन। भोजन भट्ट को काम आकर दबा लेता है।"

भोजन-संयम के विषय में गांधी जी ने भी कहा था—"मेरे आश्रम में प्रवेश करने वाले के लिए मेरी सब से पहली शर्त है—रसना-संयम। अपनी जबान पर काबू करना।" जबान मनुष्य को चटोरा और बक्कड़ बना सकती है। अतः जबान पर काबू रहना ही चाहिए।

मदिरा पीने से, मांस खाने से, अण्डा चबाने से और अन्य प्रकार के तामस पदार्थों के भक्षण से तथा पान करने से मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता। तामस पदार्थ मन की शक्ति और तन की ताकत को नष्ट करते हैं। अतः स्वस्थता लाभ लेने वाले लोगों को उक्त प्रकार के तामस पदार्थों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

तामस पदार्थों की तरह ही राजस पदार्थ भी स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। मिरच-मसाले, खटाई-मिठाई और चटनी

आदि सब राजस पदार्थ हैं। उक्त पदार्थ तामस की तरह निन्दा के योग्य तो नहीं हैं, फिर भी स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाले तो हैं ही।

सात्त्विक पदार्थों के भक्षण से, पान से और सेवन से तन को ताकत मिलती है और मन को स्फूर्ति मिलती है। घृत, दुग्ध, दधि और तक्र आदि सब सात्त्विक पदार्थ हैं। हरी सब्जी भी सात्त्विक पदार्थ मानी जाती है।

युवक के रहन-सहन का प्रभाव भी उसके स्वास्थ्य पर पड़ता है। अतः मनुष्य का रहन-सहन भी सीधा-सादा होना चाहिए। तभी वह स्वस्थ एवं प्रसन्न रह सकता है।

१८

श्रमण-संस्कृति का सार

श्रमण-संस्कृति आत्मा की संस्कृति है। आत्मा के संस्कार को, मन के परिमार्जन को और बुद्धि के प्रक्षालन को श्रमण-धर्म में, श्रमण-विचारधारा में और श्रमण-संस्कृति में बड़ा महत्त्व दिया गया है। बाहरी जीवन की अपेक्षा उसने भीतरी जीवन को संभालने का अधिक काम किया है। वह साधक को भोग से योग की ओर, विलास से वैराग्य की ओर तथा प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाती है।

श्रमण का अर्थ है—तपस्या करने वाला साधक। जैन का अर्थ है—जीतने वाला। किस को जीतने वाला? अपने मनो-विकारों को। काम, क्रोध, और मोह अथवा राग-द्वेष और मोह—ये आत्मा के विकार हैं। उक्त दोषों के संस्कार करने को 'संस्कृति' कहते हैं।

जो तपस्वी होगा, वह विजेता अवश्य होगा, और जो विजेता होगा, वह तपस्वी अवश्य होगा। श्रमण-संस्कृति का सार है--अहिंसा। अहिंसा वह महान् विचार है, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं।

श्रमण-संस्कृति का महान् सन्देश है कि—कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है या जिनको देना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस में अविश्वास ही विनाश का कारण बना हुआ है।

भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व-भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। 'पर' की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है—दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित होना और उन्हें छीनने का दुस्साहस करना।

श्रमण-संस्कृति का अमर आदर्श है कि—प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर उचित प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, चोरी है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? केवल इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की तथा जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढ़े जा सकते हैं।

तीर्थङ्करों के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रिय रूप नहीं है। वे अहिंसा का अर्थ—प्रेम, परोपकार एवं विश्व-बन्धुत्व करते हैं। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, तीर्थङ्करों का आदर्श यहीं तक सीमित नहीं है। उनका आदर्श है—दूसरों के जीने में मदद करो, बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व नहीं देते, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एक-मात्र अपने स्वार्थ में ही उलझा रहता है।

जो दूसरों की सेवा करता है, वह भी दूसरों की सेवा का मेवा-फल पाता है। जिसने मुक्त-भाव से जग को प्यार किया है, उसने सदा जग से प्रेम एवं प्यार ही पाया है। विरोधी को भी अपने अनुकूल बनाने की अहिंसा में अद्भुत शक्ति है। वस्तुतः अहिंसा ही श्रमण-संस्कृति का सार-तत्त्व है। श्रमण-संस्कृति का पालन करने के लिए कौन-सा उपाय सर्व-सुलभ और सर्वश्रेष्ठ है? कदाचित् यह प्रश्न आपके मन और मस्तिष्क में एक खोज-सम्बन्धी जिज्ञासा पैदा करेगा। इस जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए

आपको अधिक विचार-मन्थन की जरूरत नहीं है। इसका उपाय बहुत सीधा-सादा है, अर्थात्—'अहिंसा को व्यावहारिक जीवन में ढाल लेना ही श्रमण-संस्कृति की सच्ची साधना है।'

१९

संस्कृति की अन्तरात्मा

जैन-संस्कृति जन-जन की संस्कृति रही है। आचार की पवित्रता और विचार की विराटता जैन-संस्कृति का मूल आधार है। यह संस्कृति गुणों के विकास को महत्त्व देती है। किसी भी जाति और कुल की ऊँचता-नीचता को नहीं। जैन-संस्कृति जाति, कुल, देश और धन के बन्धनों से मुक्त होकर जन-जन को भेद और विरोध से दूर हटा कर एकत्व और भ्रातृत्व का सन्देश देती है। वह मानव को विराट् और महान् बनाने की प्रेरणा करती है।

मनुष्य का जीवन केवल उसी तक सीमित नहीं है, वह जिस समाज और राष्ट्र में रहता है, उसके प्रति भी उसका कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य से पराङ्मुख होकर भागने में मनुष्य का गौरव नहीं है, उसका गौरव है, हजारों-हजार बाधाओं को, रुकावटों को पार करके अपने कर्त्तव्य-कर्म को जन-कल्याण की भावना से करते जाना। इस निःस्वार्थ कर्म-योग में यदि उसे जनता का स्वागत-

सत्कार मिले तो क्या? और यदि चारों ओर से हजार-हजार कण्ठ-स्वरों से विरोध मिले, तो भी क्या?

मनुष्य अपने जीवन में अहिंसा, सत्य और सहयोग की भावना अपनाकर ही अपना विकास कर सकता है। सम्प्रदायवाद, जातिवाद और वैर-विरोध की नीति उसके विनाश के लिए है, विकास के लिए नहीं। जैन-संस्कृति कहती है, कि मनुष्य स्वयं ही देवत्व और दानवत्व में से किसी भी एक व्यक्ति को चुन सकता है। वह देव बन कर संसार के सामने ऊँचा आदर्श रख सकता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का स्वामी है, जीवन का सम्राट् है। विचार और विवेक से वह बहुत ऊँचा उठ सकता है। मनुष्य के विकास में ही समाज और राष्ट्र का भी विकास है, और उसके पतन में उनका भी पतन ही है।

जैन-संस्कृति विचार-स्वतन्त्रता को मुख्यता देती है। अन्ध-विश्वास, अन्ध-परम्परा और रुढ़िवाद का विरोध करती है। सत्य जहाँ कहीं भी मिलता हो, ग्रहण कर लेना चाहिए। जो सत्य है, वह सब मेरा है, यह जैन-संस्कृति का आघोष रहा है। जैसे दूध में से मन्थन द्वारा घृत निकल आता है, वैसे लोक-जीवन के मन्थन से जो सत्य निकलता है, वह सब अपना ही है। हाँ, मनुष्य का मनन और मन्थन क्षीण नहीं हो जाना चाहिए। यदि उसमें विवेक-शक्ति नहीं रही, तो फिर अर्थ का अनर्थ भी होते क्या देर लगती है?

आज के प्रत्येक धर्म के नीचे इतना कूड़ा-करकट एकत्रित हो गया है कि जिससे धर्म का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट होने लगा है। विवेक और ज्ञान के प्रवाह से उसे बहा देना चाहिए। जैन-संस्कृति का सीधा विरोध अन्ध-विश्वास और अज्ञानता से है।

भारत के बहुत से लोग कहते हैं—"नर और नारी में बहुत बड़ा भेद है।" नारी, नर के समान कार्य नहीं कर सकती। यह भी एक अन्ध-विश्वास है। मेरा अपना विश्वास तो यह है, कि क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर—सभी कार्यों में नारी ने अपनी विशेषता सिद्ध कर दी है। आत्म-साधना जैसे जटिल तथा विषम मार्ग में भी वह नर से पीछे नहीं रही है। जैन-संस्कृति कहती है—समाज रूपी रथ के नर और नारी बराबर के पहिए हैं, जिससे कि समाज की प्रगति होती रहती है।

सत्य के महापथ पर अग्रसर होने वाले नर हों, नारी हों बाल हों या वृद्ध हों ? उन सभी का जीवन समाज और राष्ट्र के लिए मङ्गलमय वरदान है।

२०

व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज का परस्पर वही सम्बन्ध है, जो सागर के एक विन्दु का महासिन्धु से होता है। जिस प्रकार विन्दु-विन्दु से मिलकर एक महासिन्धु बन जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति से मिलकर एक समाज बनता है। मनुष्य, समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता। समाज से भिन्न उसका अस्तित्व सम्भव नहीं है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति का विकास तभी सम्भव है, जब कि वह समाज में अपना विलय कर दे। क्योंकि समाज से अलग रह कर मनुष्य का काम नहीं चल सकता।

व्यक्ति समाज को और समाज व्यक्ति को प्रभावित करता है। व्यक्ति का आचार समाज का आचार बन जाता है और व्यक्ति का विचार समाज का विचार बन जाता है। इसी प्रकार समाज के आचार और समाज के विचार का प्रभाव भी व्यक्ति पर अवश्य पड़ता है। व्यक्ति समाज को देता है, और समाज व्यक्ति

को देता है। व्यक्ति और समाज का यह आदान-प्रदान ही वस्तुतः मानव की सामाज़िकता का मूल आधार है।

समाज के विकास में व्यक्ति का विकास, और व्यक्ति के विकास में समाज का विकास निहित रहता है। समाज चेतन नहीं, जड़ है। उसमें क्रिया नहीं, विचार-शक्ति नहीं। अतः उसे मोड़ने वाला अथवा गतिशील बनाने वाला व्यक्ति ही होता है। व्यक्ति के अभाव में समाज कुछ भी नहीं कर सकता। आज के युग में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ है। व्यक्ति का शासन समाज पर हो अथवा समाज का शासन व्यक्ति पर हो? आज चारों ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष दीख पड़ता है। किन्तु यहाँ हमें इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति-स्वतन्त्रता का अर्थ—स्वच्छन्दता नहीं है। स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता में बड़ा अन्तर है। स्वतन्त्रता में संयम रह सकता है, पर जहाँ स्वच्छन्दता है, वहाँ संयम टिक नहीं सकता। समाज को मिटाकर व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता और व्यक्ति को दलित करके समाज फल-फूल नहीं सकता। व्यक्ति और समाज के उचित संतुलन में दोनों का विकास हो सकता है। इसी तथ्य को हिन्दी साहित्य के महाकवि जयशंकर प्रसाद ने अपने महाकाव्य 'कामायनी' में अभिव्यक्त किया है—

"अपने में सब कुछ भर,
कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।"

व्यक्ति पर आस-पास के वातावरण का अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है।। बहुत कम व्यक्तियों में यह क्षमता होती है कि

वे वातावरण को अपने अनुकूल बना सके। अन्यथा व्यक्ति जैसा वातावरण देखता है, वैसा ही अपने-आप को बनाने का प्रयत्न करता है। अतः परिस्थिति और वातावरण को अपने प्रतिकूल न बनने दो। व्यक्ति का विचार और उसका कार्य कभी-कभी प्रतिकूल परिस्थिति को भी अनुकूल बना लेते हैं। व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी ऐसा कार्य न करे, जिससे समाज को क्षति पहुँचे अथवा समाज का संतुलन छिन्न-भिन्न हो जाए। दूसरों के प्रति सद्-व्यवहार और सद्भावना रखने से समाज अनुकूल बनता जाएगा। यदि स्वयं अच्छे बनने का प्रयत्न करोगे, तो समाज भी अच्छा ही बनेगा। क्योंकि समाज का अच्छापन या बुरापन व्यक्ति के अच्छेपन या बुरेपन पर आधारित है। समाज के सुधार का आरम्भ भी व्यक्ति के सुधार से होना चाहिए। प्रयत्न करो कि तुम स्वयं ऊँचे उठ सको, जिससे समाज भी उन्नत एवं विकसित हो सके तथा वह प्रगतिशील बन सके। व्यक्ति के विकास पर ही समाज का विकास आधारित है।

प्रत्येक व्यक्ति को समाज से संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त है। किन्तु यही अधिकार दूसरे व्यक्ति को भी प्राप्त है। अतः दूसरों के अधिकारों पर कभी आघात न करो। यदि आप अधिकार चाहते हो, तो अपने कर्त्तव्यों को भी पूरा करने का ध्यान रखो। व्यक्ति और समाज का समन्वय एक ही बात पर आधारित है कि—'प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहे और दूसरे को भी जीवित रहने दे।'

२१

पतझर और वसन्त

मनुष्य के जीवन में कभी दुःख तो कभी सुख। जीवन की धारा कभी एक रस नहीं रहती, कभी सम तो कभी विषम। अनुकूलता और प्रतिकूलता के झूले पर झूलते रहना ही वस्तुतः मानव का स्वभाव है। उसके जीवन क्षितिज पर कभी अंधियारी रात आती है, तो कभी उजला दिन भी आता है। उसका जीवन एक ऐसा जीवन है, जो कभी निराशा के गहरे गर्त में पहुँचता है, तो कभी आशा के उच्चतम शिखर पर। जीवन की वाटिका में कभी अपत पतझर आता है, तो कभी सुन्दर वसन्त भी वहाँ पर मुस्करा उठता है। पतझर के बाद वसन्त और वसन्त के बाद फिर पतझर—यही तो जीवन-क्रम है। महाकवि दिनकर ने जीवन की इसी परिभाषा को अपने काव्य में मधुर-भाव में अभिव्यक्त किया है—

> "फूलों पर आँसू के मोती और अश्रु में आशा।
> मिट्टी के जीवन की छोटी, नपी-तुली परिभाषा॥"

सुख और दुःख में सम रहना ही वस्तुतः सच्ची जीवन-कला है। जब तक समत्व-योग की जीवन-कला अधिगत नहीं हो जाती है, तब तक मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य को संप्राप्त नहीं कर सकता। सुख आने पर फूल जाना और दुःख आने पर कुम्हला जाना—यह भी क्या कोई जीवन है? अनासक्त योगी न शुभ का स्वागत करता है और न अशुभ का तिरस्कार। वह अपनी राह पर मस्ती के साथ चलता है। न किसी की निन्दा का भय है और न किसी की प्रशंसा की अभिलाषा। वह अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व देता है। उसके पथ में आने वाले विकट संकट और लुभावने प्रलोभन उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। वह उस कोकिल के समान नहीं है, जो मधु मास में तो झूम-झूमकर मधुर कूजन करता हो, और पतझर के नीरस क्षणों में किसी एकान्त स्थान में बैठकर अपने बीते दिनों को याद करता हो। जब तक पतझर और वसन्त में समभाव पैदा नहीं होगा, तब तक मनुष्य अपने जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकेगा। जीवन के इसी महान् तथ्य को कवि 'सुमन' ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"साथी, इस कर्त्तव्य जगत में
मानव बनकर जीना होगा
अपने सुख-दुःख के प्यालों को
जैसे भी हो पीना होगा
चलते चलो, करो जो करना,
व्यर्थ निराशा से डरते हो?"

वह मनुष्य ही क्या, जो विकट संकट में अपनी धीरता को खो बैठे! वह पथिक ही क्यों, जो पथ की बाधाओं से व्याकुल

होकर लक्ष्य पर पहुँचे विना ही वापस लौट पड़े ! वह साधक ही क्या, जो मार्ग के फूलों से तो प्यार करे और शूलों से घृणा ! जब तक पथिक के चरणों में अंगद जैसी दृढ़ता न होगी, तब तक वह किसी भी लक्ष्य पर पहुँचने का अपना संकल्प पूरा नहीं कर सकता। अपनी मस्ती में चलने वाला राही न फूल चुनने के लिए ठहरता है और न शूलों से व्याकुल होकर लौटता है। वह तो मस्ती के साथ अपनी राह पर चलता रहता है। महादेवी वर्मा ने इसी दिव्य-भाव को अपनी कविता की पंक्तियों में यों व्यक्त किया है—

"पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं, जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-बेला !"

मनुष्य मूल में आशावादी है। आशा पर ही उसका जीवन चल रहा है। आशा जीवन है, और निराशा मरण। आशा साहस है, और निराशा कायरता। आशा का दीप जलाकर ही मनुष्य अपने मन में आने वाले निराशा के अन्धकार को दूर भगा सकता है। जिस दिव्य आत्मा के हृदय में आशा का ज्योतिर्मय दीप जल रहा हो, भला उसे कैसा दुःख, कैसी चिन्ता और कैसी निराशा ? जिसने सदा हँसना सीखा है, वह रोना क्या जाने ? निराशा वह तूफान है, जहाँ आशा की पतवार ही मनुष्य को किनारे लगाती है। निराशा के झकोरे जब मनुष्य को बेभान और बेसुध कर डालते हैं, तब एकमात्र आशा ही उनके जीवन का अमृत-बिन्दु बनता है।

२२

आत्म-विश्वास

दुर्बल वह नहीं है, जिसे आप दुर्बल समझते हैं। वस्तुतः दुर्बल वह है, जो अपने-आप को स्वयं दुर्बल समझता है। जिस व्यक्ति को अपनी शक्ति पर, अपने बल पर स्वयं विश्वास नहीं है, वह दूसरों को क्या प्रेरणा दे सकेगा? आत्म-विश्वास का अभाव ही वस्तुतः बहुत-सी असफलताओं का कारण होता है। शक्ति के विश्वास में ही शक्ति है। वह व्यक्ति सब से कमजोर है, जिसको अपने-आप पर तथा अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। पथ का अवरोध ही मनुष्य को साहस, प्रेरणा और विश्वास प्रदान करता है। जल की तीव्र धारा जब समुद्र से मिलने का निश्चय करती है, तब पथ के पाषाण, शिला और शैल भी उसके मार्ग का अवरोध नहीं कर पाते हैं। जल-धारा अपना मार्ग स्वयं बना लेती है। कवि ने कहा है—

"तेज धार का कर्मठ पानी,
चट्टानों के ऊपर चढ़कर,
मार रहा है घूँसे कसकर,
तोड़ रहा है तट चट्टानी ।"

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में 'जय' और 'पराजय' के क्षण आते ही रहते हैं। 'जय' में आशा और उल्लास का होना स्वाभाविक है, किन्तु 'पराजय' के क्षणों में आत्म-विश्वास खो बैठना सब से बड़ी असफलता है। जीवन में पराजय के क्षण आते ही हैं, असफलता का सामना भी करना ही पड़ता है, किन्तु यह सब कुछ रोकर नहीं, हँस कर करना चाहिए। जीवन के मोर्चे पर कभी मनुष्य को जय मिलती है, तो कभी पराजय। किन्तु इतने मात्र से मनुष्य को पराजय में अपना साहस नहीं खोना चाहिए और जय में अपना मार्ग नहीं भूल जाना चाहिए। दोनों में समान भाव में स्थिर रहना चाहिए। यही जीवन की कला है। इस सम्बन्ध में एक कवि ने कहा है—

"फूल न उठना विजय गर्व से,
दुःखी न होना खाकर हार।
गिर कर उठना—उठकर गिरना,
है यह जीवन का व्यापार ।"

कवि ने इन पंक्तियों में मानव-जीवन का सम्पूर्ण सार भर दिया है।

आत्म-विश्वास सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसका अपने मन पर ही विश्वास नहीं है, और जो अपनी शक्तियों पर विश्वास नहीं कर सकता, वह अपनी कमजोरी से कैसे लड़ेगा? मन की दुर्बलता सफलता में सब से बड़ी बाधा है।

मनुष्य के लिए आत्म-विश्वास ही सब से बड़ी शक्ति है। इसके अभाव में वह महान् कार्य नहीं कर सकता। कोलम्बस के अद्भुत आत्म-विश्वास का ही फल था कि वह पृथ्वी को गोल सिद्ध कर सका। नैपोलियन के आत्म-विश्वास ने असंभव को भी संभव बना दिया। मनुष्य किसी भी स्थिति में हो, कैसे भी तूफान के बीच हो, वह आत्म-विश्वास के सहारे ऊपर उठ सकता है, तूफान को पार कर सकता है। याद रखो, कि तुम स्वयं ही अपने सब से बड़े शत्रु हो, और तुम स्वयं ही अपने सब से बड़े मित्र हो! तुम अपनी शक्ति, अपने बल और अपने विश्वास से सारे संसार को जीत सकते हो। निश्चय करो, और जुट जाओ। तब पता चलेगा कि सफलता तुम्हारे चरणों पर लोट रही है। तुम्हारी चाही चीजें तुम्हारे पास खिंची चली आ रही हैं।

दृढ़ इच्छा-शक्ति ही आत्म-शक्ति है। अपनी इच्छाओं पर अंकुश रखकर ही तुम अपनी आत्म-शक्ति को बढ़ा सकते हो। जीवन की सफलता के पथ पर आगे बढ़ने के लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता होती है। विचारों में जितनी दृढ़ता होगी, आत्म-शक्ति भी उतनी ही बलवती होगी। आत्म-शक्ति के लिए विचार-बल तथा चरित्र-बल की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य में बहुत बल है, यह माना, परन्तु विचार उससे भी अधिक बलवान् है। भावना को क्रियात्मक रूप देने के लिए विचारों की आवश्यकता होती है। आत्म-शक्ति और विचारों का सम्बन्ध मन से है। ज्ञानी लोगों ने मन को व्याघ्र कहा है। राजा जनक ने मन को चोर कहा है। राजा जनक कहता है—"प्रबुद्धोऽस्मि, प्रबुद्धोऽस्मि, दृष्टश्चौरो मयात्मनः।" अर्थात्—"मैं जाग उठा हूँ, मैं जाग उठा हूँ, आत्मा के चुराने वाले चोर को मैंने

देख लिया है।" मन क्या नहीं कर सकता ? उसकी गति अपार है, उसका बल अपार है। मन जो चाहे, सोच सकता है—अच्छा भी और बुरा भी। शास्त्रकार कहते हैं—"मनः पूतं समाचरेत्।" अर्थात्—'मन को सदा पवित्र रखो।'

२३

विद्या और कला

मानव जीवन में विद्या और कला का विशेष स्थान रहा है। कहना होगा, कि विद्या और कला-हीन मानव, मानव ही नहीं। शुक्राचार्य ने अपने नीति ग्रन्थ में कहा है—"सर्वं विद्यास्वनध्यासो जराकारी कलासु च।" अर्थात् जब मनुष्य के मन में नयी विद्या और नयी कला सीखने की स्फूर्ति न रहे, तब समझ लेना चाहिए कि वह अब जरा-क्रान्त हो चला है, जीवन के अस्ताचल पर जा पहुँचा है।

विद्या जीवन का प्रकाश है, और कला जीवन की गति। विद्या जीवन की शक्ति है, और कला जीवन की अभिव्यक्ति। विकास, अभ्युदय और समुन्नति के लिए दोनों की तुल्यबलेन उपासना करना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य भी है। अन्ध-पंगु न्याय संस्कृत में प्रसिद्ध है। अन्धा देख नहीं सकता, चल सकता है। और पंगु चल सकता है, पर देख नहीं सकता। दोनों का समन्वय ही मानव जीवन का एक महान् आदर्श है।

आत्मा का स्वभाव क्या है ? और उसका विभाव क्या है ? यह जान लेना विद्या है। महान् दार्शनिक यशोविजय जी के शब्दों में—"**स्वभाव-लाभ-संस्कार कारणं ज्ञानमिष्यते ।**" अर्थात् आत्मा के स्वभाव-लाभ के संस्कार में जो आप्त-वचन कारण बनता है, वही सच्चा है, वही वास्तविक विद्या है। शेष जो कुछ ज्ञान है, वह तो बुद्धि-विलास मात्र है। आत्मा और कर्म के अनादि संश्लेष को विश्लेष में परिणत कर देना, यह कला है। जानना विद्या और उसके अनुसार चल पड़ना कला है।

आगम की भाषा में साधक को—"**विज्जा चरण-पारगो**" कहा गया है। श्रमण-संस्कृति में जीवन का यह एक विशुद्ध संलक्ष्य है। विद्या और चरण में, ज्ञान और चारित्र में पारंगत होना, साधक की साधना का लक्ष्य-विन्दु है। जिस साधक ने अपने साधना वल से विशुद्ध विद्या और पवित्र आचरण प्राप्त कर लिया, वह कृत-कृत्य हो गया। जीवन्मुक्त हो गया। विद्या और कला की सच्ची उपासना मनुष्य को अरिहन्त और सिद्ध पद पर पहुँचा देती है।

२४

जीवन का स्वस्थ दृष्टिकोण

'दूसरों के दोषों को देखना' जितना सरल है, अपने आत्म-स्थित दोषों को देख सकना, उतना ही कठिन है। मनुष्य अपने ही गज से जब अपने-आप को नापता है, अपनी ही विचार-तुला में जब अपने-आप को तोलने बैठता है, और अपने ही दृष्टिकोण से जब अपने-आप को परखता है, तब निःसंदेह वह अपने को ज्ञानी, विवेकी और अनुभवी समझने लगता है। उसने अपने सम्बन्ध में जो कल्पना कर ली है, एक मानसिक चित्र तैयार कर लिया है, उसके विपरीत जब कोई मनुष्य विचार करता है या बोलता है, अथवा प्रवृत्ति करता है, तब वह उसे अपना विरोधी, वैरी और घातक घोषित कर देता है। उसके सम्बन्ध में जन-जन के मानस में द्वेष, घृणा और नफरत फैलाता फिरता है। उसे निन्दक और आलोचक कहता है।

वस्तुतः वह स्वयं ही अपना वैरी है, विरोधी है, और है अपना परम शत्रु ! अपनी योग्यता से अधिक अपने को समझना

अपने दोषों को भूल कर, अपने अवगुणों को भी गुण समझने की भूल करना—"यही तो है, पतन का पथ।"

एक विचारक ने अपनी पुस्तक में लिखा है, कि—"प्रत्येक कार्य में छोटी-छोटी भूलों का भी पता पा लेना सफल जीवन का और साधक जीवन का परमोच्च रहस्य है।" जिस ढंग से व्यवसायी अपनी रोकड़ मिलाता है, उसी ढंग से ही साधक को भी अपने जीवन का हिसाव-किताब साफ रखना है। एक पैसे की भूल से भी रोकड़ गड़बड़ा जाती है, उसी प्रकार एक भी त्रुटि से भले ही वह नगण्य भी क्यों न हो—साधक का धवल-जीवन धूमिल एवं मलिन वन जाता है।

संस्कृत भाषा में एक शब्द है—"दोषज्ञ।" सामान्यतः इसका अर्थ होता है—दोषों को जानने वाला। विशेषतः इसका अर्थ है—"पंडित।" एक आचार्य ने कहा है—"**मनुष्येण दोषज्ञेन भवितव्यम्।**" मनुष्य को दोष-दर्शी होना चाहिए। दोष देखना, पण्डित का लक्षण है। जो भूल देख सकता है, भूल पकड़ सकता है, वही सच्चा पण्डित है।

पर, प्रश्न उपस्थित होता है कि दोष किस के देखें? अपने या पराये? पराये दोष देखते-देखते ही अनन्त-काल हो गया, परन्तु आत्मा का क्या सधा उससे? अतः फलित हुआ कि अपने दोषों को देखो, उन्हें उसी क्रूरता से पकड़ो, जितनी क्रूरता से दूसरों के दोषों को पकड़ते हो। जिसने अपने को पकड़ा, अपनी चोरी पकड़ी, वही सच्चा पण्डित है, वही सच्चा साहूकार है।

अपने स्वभाव, अपने विचार और अपने व्यवहार की परीक्षा करने से मनुष्य को अपनी वहुत-सी कमजोरियों का पता चल जाता है। दूसरों को दूषण देने की अपेक्षा अपने को ही

परखना-सीखना चाहिए, यही जीवन की यथार्थ कला है। भगवान् महावीर ने अपने साधकों को सावधान करते कहा—

"जाए सद्धाए निक्खंता तामेव अणुपालिया।"

"साधको! जिस श्रद्धा से, जिस विश्वास से और जिस मजबूती से तुमने साधना के महामार्ग पर अपना पहला कदम रखा है, उसी श्रद्धा से, उसी विश्वास से और उसी मजबूती से जीवन की सन्ध्या तक निरन्तर चलते रहो! अपनी गति को यति देना तो दुर्बलता नहीं है, परन्तु पथ से स्खलित हो जाना, विचलित हो जाना, अवश्य तुम्हारे लिए कलंक है, दूषण है, दोष है। और दोषमय जीवन साधक के लिए विष है, मृत्यु है। उसका जीवन तो दोष-विवर्जित होना चाहिए।"

संसार को दोष देने के पूर्व साधक पहले अपनी ओर देख ले कि कहीं दोष का बीज स्वयं उसी में तो नहीं है? जो साधक संसार को प्रकाश देने चला है, पहले उसे अपना भी अवलोकन कर लेना चाहिए कि कहीं उसी के हृदय-सदन में तो अन्धेरा नहीं है। जो दूसरों का पथ-प्रदर्शक बन कर निकला है, कहीं वही तो उन्मार्ग पर नहीं चल पड़ा है? साधक को इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो विकार उसे बाहर दीख रहा है, उसका मूल कहीं उसी के भीतर तो नहीं है? साधक यदि अपने-आप में सावधान होकर चलता है, जागरूक होकर अपने पथ पर बढ़ रहा है, तो फिर संसार कुछ भी क्यों न कहे? उसे भय क्यों हो?

यदि अभिभावक, माता-पिता और गुरुजन यह कहते हैं, कि आज-कल के शिष्य, आज-कल के पुत्र—पूर्व काल के शिष्य और पुत्रों की भाँति गुरुभक्त नहीं हैं, माता-पिता के अनुशासन को नहीं

स्वीकार करते, तो उन्हें यह भी देखना चाहिए, कि कहीं उनमें स्वयं गुरुत्व का अभाव तो नहीं है ? यदि किसी अभिभावक में अभिभावकत्व नहीं है, तो फिर उसका सत्कार, सम्मान और पूजा का स्वप्न देखना भी व्यर्थ है। भूख लगने से ही किसी को भोजन नहीं मिलता। प्रत्येक अभिलाषा की पूर्ति त्याग और श्रम-साध्य होती है। किसी भूले राही को उसके पथ का बोध कराना एक बात है और उसे अपने पुराने वैर का शिकार बनाना बिल्कुल अलग है।

चीन देश के प्राचीन दार्शनिक कनफ्यूशस ने कहा है—"वही श्रेष्ठ राष्ट्र है जिसमें राजा अपना, प्रजा अपना, पिता और पुत्र अपना, माता और पुत्री अपना तथा गुरु और शिष्य अपना कर्त्तव्य निष्ठा के साथ पूरा करते हैं।" वस्तुतः बात बहुत ही ऊँची कही गई है। सब अपने कर्त्तव्य को समझ कर उसके अनुसार आचरण करें। मर्यादा का अतिक्रमण अपने ही लिए अकल्याणकर होता है। जो स्वयं अपने आचरण को मर्यादित नहीं कर सकता, वह दूसरों को अनुशासन में कैसे रख सकेगा ? अतः आत्म-शासन सहज नहीं है, अपने पर अधिकार दुष्कर है। थोड़ा-सा अधिकार पाते ही मनुष्य आपे से बाहर हो जाता है। शक्ति के उन्माद में अपना कर्त्तव्य भूल जाता है। नीति-शास्त्र के धुरन्धर विद्वान आचार्य शुक्र के शब्दों में—"अधिकार मदिरा को चिरकाल तक पीकर कौन नहीं मोहित होता"—'अधिकार-मदं पीत्वा को न मुह्यात् पुनश्चिरम् '

भगवान् महावीर ने साधकों को शिक्षा देते हुए कहा—"प्रत्येक साधक को प्रतिदिन अपने-आप से ये तीन प्रश्न करने चाहिए और अपनी अन्तरात्मा से उत्तर लेना चाहिए—

"किं मे कडं किंच मे किच्च सेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥"

"मैंने अपने कर्त्तव्य-कर्मों में से क्या-क्या कर लिया है, अब, क्या करना शेष रह गया है ? और वह कौन-सा कर्त्तव्य है ? जो मेरी शक्ति की परिधि में होकर भी अभी तक मेरे से बन नहीं सका है ?"

पर्युषण-पर्व के इन महत्त्व-पूर्ण तथा सौभाग्य-भरित दिवसों में श्रमण और श्रमणी तथा श्रावक और श्राविका अपनी आत्मा के चिर-पोषित विकारों को चुन-चुन कर बाहर निकाल सके, और अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थिर होकर निष्ठापूर्वक अपना-अपना भाग अदा कर सके, तो अवश्य ही वे अपनी सुप्त आत्मा को जागृत करने के प्रयत्न में सफल होंगे। दूसरों के दोष न देख कर, यदि हम अपने ही दोष देखना सीख लें, तो आज तक का हमारा दूषण ही, भूषण बन सकता है। जीवन की गति और यति में समन्वय सध सकता है।

२५

अमर सेनानी

मैं तेरे चरण-कमलों में कोटि-कोटि बार वन्दना करता हूँ !

जब तू आया, यहाँ दानवता का नग्न नृत्य हो रहा था, और हो रहा था—पशुता का उन्मुक्त ह····ह····ह···· अट्टहास !

मानवता कराह रही थी—धर्मशास्त्रों के पोथी-पन्नों के नीचे, देवी-देवताओं की मनौतियों के नीचे, ईश्वरवाद की भारी-भरकम आवाज के नीचे !

गरीब प्रजा का जीवन-मरण मुट्ठी भर पुरोहितों के हाथ में था। और वे थे अपनी उच्च जातीयता के अहंकार में अँधे एवं पथ-भ्रष्ट ! वे अपने-आप को ब्रह्म की पवित्र सन्तान समझे हुए थे और भूले हुए थे कि हमारे सिवा और किसी को मनुष्य के के रूप में जीने का अधिकार भी है या नहीं !

तू आया, क्रान्ति की रणभेरी बजाता ! शोषित प्रजा तेरे आस-पास इकट्ठी होने लगी, तो पाखण्ड के स्वर्ण-सिंहास

"किं मे कडं किंच मे किच्च सेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥"

"मैंने अपने कर्त्तव्य-कर्मों में से क्या-क्या कर लिया है, अब, क्या करना शेष रह गया है ? और वह कौन-सा कर्त्तव्य है ? जो मेरी शक्ति की परिधि में होकर भी अभी तक मेरे से बन नहीं सका है ?"

पर्युषण-पर्व के इन महत्त्व-पूर्ण तथा सौभाग्य-भरित दिवसों में श्रमण और श्रमणी तथा श्रावक और श्राविका अपनी आत्मा के चिर-पोषित विकारों को चुन-चुन कर बाहर निकाल सके, और अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थिर होकर निष्ठापूर्वक अपना-अपना भाग अदा कर सके, तो अवश्य ही वे अपनी सुप्त आत्मा को जागृत करने के प्रयत्न में सफल होंगे। दूसरों के दोष न देख कर, यदि हम अपने ही दोष देखना सीख लें, तो आज तक का हमारा दूषण ही, भूषण बन सकता है। जीवन की गति और यति में समन्वय सध सकता है।

२५

अमर सेनानी

मैं तेरे चरण-कमलों में कोटि-कोटि बार वन्दना करता हूँ !

जब तू आया, यहाँ दानवता का नग्न नृत्य हो रहा था, और हो रहा था—पशुता का उन्मुक्त ह····ह····ह···· अट्टहास !

मानवता कराह रही थी—धर्मशास्त्रों के पोथी-पत्रों के नीचे, देवी-देवताओं की मनौतियों के नीचे, ईश्वरवाद की भारी-भरकम आवाज के नीचे !

गरीब प्रजा का जीवन-मरण मुट्ठी भर पुरोहितों के हाथ में था। और वे थे अपनी उच्च जातीयता के अहंकार में अँधे एवं पथ-भ्रष्ट ! वे अपने-आप को ब्रह्म की पवित्र सन्तान समझे हुए थे और भूले हुए थे कि हमारे सिवा और किसी को मनुष्य के के रूप में जीने का अधिकार भी है या नहीं !

तू आया, क्रान्ति की रणभेरी बजाता ! शोषित प्रजा तेरे आस-पास इकट्ठी होने लगी, तो पाखण्ड के स्वर्ण-सिंहास

"किं मे कडं किच मे किच्च सेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥"

"मैंने अपने कर्त्तव्य-कर्मों में से क्या-क्या कर लिया है, अब, क्या करना शेष रह गया है? और वह कौन-सा कर्त्तव्य है? जो मेरी शक्ति की परिधि में होकर भी अभी तक मेरे से बन नहीं सका है?"

पर्युषण-पर्व के इन महत्त्व-पूर्ण तथा सौभाग्य-भरित दिवसों में श्रमण और श्रमणी तथा श्रावक और श्राविका अपनी आत्मा के चिर-पोषित विकारों को चुन-चुन कर बाहर निकाल सकें, और अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थिर होकर निष्ठापूर्वक अपना-अपना भाग अदा कर सकें, तो अवश्य ही वे अपनी सुप्त आत्मा को जागृत करने के प्रयत्न में सफल होंगे। दूसरों के दोष न देख कर, यदि हम अपने ही दोष देखना सीख लें, तो आज तक का हमारा दूषण ही, भूषण बन सकता है। जीवन की गति और यति में समन्वय सध सकता है।

२५

अमर सेनानी

मैं तेरे चरण-कमलों में कोटि-कोटि बार वन्दना करता हूँ !

जब तू आया, यहाँ दानवता का नग्न नृत्य हो रहा था, और हो रहा था—पशुता का उन्मुक्त ह····ह····ह···· अट्टहास !

मानवता कराह रही थी—धर्मशास्त्रों के पोथी-पन्नों के नीचे, देवी-देवताओं की मनौतियों के नीचे, ईश्वरवाद की भारी-भरकम आवाज के नीचे !

गरीब प्रजा का जीवन-मरण मुट्ठी भर पुरोहितों के हाथ में था। और वे थे अपनी उच्च जातीयता के अहंकार में अँधे एवं पथ-भ्रष्ट ! वे अपने-आप को ब्रह्म की पवित्र सन्तान समझे हुए थे और भूले हुए थे कि हमारे सिवा और किसी को मनुष्य के के रूप में जीने का अधिकार भी है या नहीं !

तू आया, क्रान्ति की रणभेरी बजाता ! शोषित प्रजा तेरे आस-पास इकट्ठी होने लगी, तो पाखण्ड के स्वर्ण-सिंहास

शरमाकर हिलने लगे ! तुझे विद्रोही समझा गया, नास्तिक कहा गया, असुर कहा गया, और भी न जाने क्या कुछ कहा गया ?

परन्तु तू धीर-गम्भीर गति से बढ़ता ही गया, लड़ता ही गया ! तेरी वाणी में मानवता बोल रही थी, करुणा का अमृत रस बरस रहा था, 'सर्वजन हिताय—सर्वजन सुखाय' की विश्व-संस्कृति का जयघोष गूँज रहा था !

तू ने जो कुछ भी कहा, जीवन में तोलकर कहा, अनुभव में उतार कर कहा ! तेरी वाणी जीवित वाणी थी। क्योंकि उसके पीछे जीवित आचरण का अमर स्वर हुँकार कर रहा था !

तू ने कहा—

"धर्म के नाम पर मूक पशुओं के खून की होली खेलना—पाप है, महापाप है ! मारे जाने वाले मूक प्राणियों के मन का हाहाकार हत्यारों को कभी क्षमा नहीं करेगा, भले ही वे अपने पापाचरण को धर्म का चोगा पहनाएँ, यज्ञ का लबादा उढ़ाएँ ! वे शास्त्र, जो निरीह पशुओं के खून से सने हुए हैं, शास्त्र नहीं हो सकते—नहीं हो सकते ! फिर भले ही वे वेद हों, पुराण हों, स्मृति हों, और कोई भी हों। धर्म की आत्मा—अहिंसा है, दया है और करुणा है।"

तू ने कहा—

"यह जातिवाद ! यह वर्ण-व्यवस्था ! सब पाखण्ड है, अत्याचार ! मानव सब एक हैं, भाई-भाई हैं ! धर्म और मुक्ति के ठेकेदार, पवित्रता के दावेदार किसी एक वर्ग-विशेष के लोग नहीं हो सकते ! मैं जन्म नहीं पूछता, कर्म पूछता हूँ—आचरण पूछता

हूँ ! कोई भी मनुष्य जन्म से पवित्रता एवं उच्चता का अधिकार लेकर नहीं आया है। न कोई ब्रह्मा के मुख से पैदा हुआ है, और न कोई किसी के पैर से। सब मनुष्य आज जहाँ और जैसे पैदा हो रहे हैं, अनन्त अतीत में भी इसी तरह पैदा होते आ रहे हैं। कौन है जो कण्ठ में यज्ञोपवीत डाले आया हो ? और कौन है वह, जो अपने जन्म-काल में झाड़ू-टोकरी लेकर पैदा हुआ हो ? मेरे धर्म के द्वार मानव मात्र के लिए खुले हैं ! मैं सब को एक भाव से जीवन की पवित्रता का सन्देश देने आया हूँ !"

तू ने कहा—

"मैं जनता की बोली में बोलूँगा ! सत्य के मर्म को किसी गूढ़ भाषा में बन्द करके रख देने से ही पाखण्ड बढ़े हैं, अन्याय और अत्याचार फैले हैं। भाषा जनता के समझने के लिए है, अपने आप गुनगुनाने के लिए नहीं ! मैं किसी एक भाषा की पवित्रता के दावे को भी कुचल कर रख छोड़ूँगा ! संस्कृत देवताओं की भाषा है, तो रहने दो उसे देवताओं के लिए। हमें तो हमारी मानव भाषा प्राकृत ही ठीक है ! जीवन का सत्य सीधे बोलने में है, तरह देकर बोलने में नहीं ! मैं संस्कृत जानता हुआ भी उसमें न बोलूँगा। मुझे संस्कृत की ठेकेदारी तोड़ देनी है ! साम्राज्य-वाद, फिर वह चाहे किसी भी तरह का हो—उससे घृणा है, अत्यन्त घृणा है !"

तू ने कहा—

"मातृ-देवता ! तू अपना देवत्व कैसे भुला बैठी है ? क्या तू पुरुषों की वासना-पूर्ति का एक-मात्र खिलौना है, और कुछ नहीं ?

नहीं, तू देवी है! तुझ में अनन्त दिव्य शक्तियों का प्रकाश है। तुझे वेद नहीं पढ़ने दिए जा रहे हैं। तुझ पर शूद्रों के साथ-साथ 'न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयाताम्' की निषेधाज्ञा लादी हुई है। तू तोड़ डाल, इन बन्धनों को! क्या तू आत्मा नहीं है? आत्मा है तो फिर पुरुषों से तू किस बात में कम है? वह कौन-सा अधिकार है जो मानव होने के नाते दूसरों को तो मिल सकता हो, परन्तु तुझे न मिलता हो? माताओ! दुर्भाग्य से तुम्हारा मूल्यांकन ईमानदारी से नहीं किया गया। तुम्हें खोटा सिक्का करार देने वाले धूर्त हैं, धर्म-द्रोही हैं! तुम्हें उनसे लड़ना होगा, अपनी छीनी हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करनी होगी!!"

तू ने कहा—

"मनुष्य! तू अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है। तू कहाँ भटक रहा है देवी-देवताओं के पीछे, ईश्वर के पीछे? तुझे क्या लेना-देना है इनसे? भद्र! तू है स्वयं देवताओं का भी देवता, और ईश्वर का भी ईश्वर! वह कल्पित ईश्वर तेरी ही कल्पना का रूप है, तेरे ही दिमाग की उपज है! क्या करेगा वह तेरा मानस पुत्र? मनुष्य अपने कर्म से ही बनता और बिगड़ता है। तू द्विभुज परमेश्वर है! जब तू अहिंसा और सत्य के विकास की अन्तिम भूमिका पर पहुँचेगा तो तेरे ज्ञानालोक से अनन्त विश्व जगमगा उठेगा, सारे विश्व की विभूतियाँ नत-मस्तक होकर तेरे चरणों में होंगी! तू ठुकरा देगा तो तेरी ठोकर में विजय का स्वर झनझना उठेगा! अपने को हीन मानना, अपने हाथों अपनी हत्या करना है। जब जागेगा तो विश्व भर के अनन्त-अनन्त रहस्य हाथ जोड़े तेरे सामने खड़े होंगे!"

"वीर तू ने मानवात्मा में सत्य और अहिंसा का सुनहला रङ्ग भर कर अपने युग के समाज एवं राष्ट्र को शिवत्व की उपासना में लीन किया !"

"पशु-बल कितना भी भीषण हो,
किन्तु अन्त में होगी हार ।
देव ! तुम्हारे सौम्य-भाव से ;
जग सीखेगा प्रेमाचार ॥"

२६

अनासक्ति योग

मैं पवन हूँ, पवन !

पलभर भी कहीं इधर-उधर न अटक कर दिन-रात दौड़ता रहने वाला, उड़ता रहने वाला !

मेरा काम है, विश्व को जीवन देने के लिए भाग-भागकर पृथ्वी के कण-कण को छूना ! और उसे जीवन प्रदान करना।

न मुझे सुख रोक सकता है, न मुझे दुःख रोक सकता है। यही बात है कि धूप हो, छाँह हो, सरदी हो, गरमी हो, वर्षा हो, वसन्त हो—कुछ भी हो, मुझे इन सुख-दुःख के द्वन्द्वों की कोई परवाह नहीं। मेरे तेज कदम फूल और काँटों पर समान भाव से पड़ते हैं और उसी क्षण आगे बढ़ चलते हैं।

देखो, वह सामने फूलों का कैसा खुशनुमा बाग है? कैसे सुन्दर रङ्ग-बिरंगे फूल खिले हैं? कैसी मादक सुरभि गन्ध महक रही है? जो आता है, सहसा खड़ा हो जाता है और घंटों खड़ा रहता है। परन्तु क्या मैं भी खड़ा हो जाऊँगा? नहीं, बिल्कुल नहीं। लो, यह देखो! तीर की तरह सनसनाता हुआ एक ही छलाँग में हो गया हूँ परली पार! अङ्ग-अङ्ग भीनी सुगन्ध से महक रहा है। परन्तु कोई कितना ही बड़ा मन-मोहक प्रलोभन हो, वह मुझे एक क्षण भी रोक नहीं सकता!

और वह देखो, कैसा भीषण दावानल धधक रहा है, सब ओर आग ही आग बरस रही है, हजारों-लाखों ज्वालाएँ आकाश की ओर लपलपा रही हैं। जो आता है, वह भयाकुल हो दश कदम पीछे हटकर खड़ा हो जाता है। कुछ देर तर्क-वितर्क में उलझ कर अन्त में हताश-निराश वापस लौट जाता है। परन्तु क्या मैं भी वापस लौट जाऊंगा? नहीं, बिल्कुल नहीं! लो, यह देखो! तीर की तरह सनसनाता हुआ एक ही छलाँग में हो गया हूँ परली पार! अङ्ग-अङ्ग झुलस गया है, सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है, परन्तु कोई कितना ही बड़ा भीषण मृत्यु का कुचक्र हो, वह मुझे एक क्षण भी रोक नहीं सकता!

श्रमण-संस्कृति के अमर गायक भगवान् महावीर ने इसीलिए मेरी ओर संकेत करते हुए कहा है कि—"साधना पथ के वीर यात्रियो, तुम्हें पवन बनना है—पवन! न तुम सुख से रुको, न दुःख से रुको, न यश से रुको, न अपयश से रुको, न जीवन से रुको, न मरण से रुको! ये जीवन के द्वन्द्व यदि तुम्हारे पथ के रोड़े बन गए और तुम इनसे अटक कर रह गए तो फिर तुम साधक ही क्या हुए, साधना-पथ के यात्री ही क्या हुए? तुम्हें

चलना है, प्रतिपल चलना है ! न तुम्हें फूल रोक सकें, न तुम्हें काँटे रोक सकें ! तुम्हारा पड़ाव, तुम्हारा विश्राम केवल एक ही स्थान पर है। और वह है साधना का एक मात्र अन्तिम लक्ष्य, अन्तिम साध्य !

क्या समाज और राष्ट्र के जीवन में युद्ध अनिवार्य है ? क्या युद्ध में मानव-जाति का खून बहाए बिना हमारी समस्याएँ सुलझ नहीं सकतीं ? क्या जल की अपेक्षा अग्नि का अधिक महत्त्व है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है और वह है—'न'।

युद्ध होने के बाद भी तो आखिर सन्धियाँ होती हैं, फिर पहले ही सन्धियों के द्वारा क्यों न हम पारस्परिक प्रेम, सद्भावना और सहकारिता के शान्ति-केन्द्र पर पहुँच जाएँ ? आग लगाकर फिर बुझाने की अपेक्षा, प्रथम आग न लगाना ही ज्यादा अच्छा है। मानव-जाति के भाग्य का निर्णय तलवार के अधिकार में देना, राक्षस को न्याय के पवित्र आसन पर बैठा देना है।

"मानव-समाज को एक शरीर का रूप देने में ही मानव-समाज का चिरस्थायी हित है, तभी हमारे अन्दर यह एकत्व भावना जागृत होगी कि यदि हम दूसरों को चोट पहुँचाते हैं तो अपने को ही चोट पहुँचाते हैं, यदि हम दूसरों को सहलाते हैं तो अपने को ही सहलाते हैं। मानव-समाज की छाती पर से युद्ध के राक्षस को यदि भगाया जा सकता है, तो इसी दिव्य भावना के बल पर, अन्यथा नहीं। हम सब एक हैं। हम सब के हित समान हैं, फिर यह युद्ध और संघर्ष पागलपन नहीं, तो क्या है ?"

२७

दीपक की संस्कृति

देखिए, मैं दीपक हूँ! प्रकाश का अनुपम केन्द्र, ज्योतिर्मय जीवन का उज्जवल प्रतीक!

मेरी भी संस्कृति है, सभ्यता है। मेरी संस्कृति है– प्रकाश की संस्कृति, आत्मोत्सर्ग की संस्कृति!

मेरी संस्कृति का आदर्श है—अपने को तिल-तिल जलाना, अन्धकार से लड़ना, और जग को ज्योतिर्मय करना!

मैं ही हूँ, जो जनता पथ-भ्रष्ट होने से बच रही है, नहीं तो वह व्यर्थ ही भटकती, अन्धकार में टकराती!

मैं स्पर्श-दीक्षा देने वाला गुरुदेव हूँ!

आए कोई मेरे पास, छूए कोई मुझे, और बन जाए मुझ जैसा ही जगमग-जगमग करता, अन्धकार में लड़ता दीपक!

मैं प्रकाश बाँटने बैठा हूँ।

देख रहे हो, ये सब नाम के दीपक हैं। कहाँ है प्रकाश ? कहाँ है ज्योति ? बेचारे अन्धकार से आच्छन्न हैं। परन्तु यह लो, मेरी अमर ज्योति का मृदुल स्पर्श पाते ही किस प्रकार जगमग करने लगे हैं, अन्धकार से लड़ने लगे हैं।

अरे कितनी बड़ी भीड़ आ रही है ? आने दो, क्या डर है ? सौ हों, हजार हों, लाख हों, कितने ही हों, मैं सब को ज्योति दूँगा, सब को दीपक बनाऊँगा। न मैंने कभी गिना है, और न अब गिनना है कि याचक कितने हैं, कहाँ से आ रहे हैं ? मैं प्रकाश पुँज हूँ। मेरे यहाँ क्या कमी है ? जब तक जिन्दा हूँ, ज्योति वितरण करता रहूँगा, सब को अपने समान बनाता रहूँगा।

"सूर्य और मुझ में कैसी तुलना ?
मैं सूर्य से भी महान् हूँ !
सूर्य को आकाश में चमकते—
कोटि-कोटि काल-चक्र हो चुके हैं,
परन्तु उसने अपने जैसे एक-दो सूर्य बनाए ?
यह भी क्या जीवन ? यह भी क्या महत्ता ?
जो पिछड़े हुओं को अपने समान न बना सके।
लोक साहित्य में स्पर्श-दीक्षा का नाटक खेलने वाला,
एक पत्थर भी है—
लोग उसे पारस मणि कहते हैं।
वह लोहे को छूकर सोना बना देता है।
मूर्ख जनता उसके बड़े चक्कर में है,
परन्तु वह मेरे सामने विचारा है क्या चीज ?
वह लोहे को ही तो सोना बनाता है।"

पारस तो नहीं बनाता।
लोहे से बना सोना लोहे को छूए तो,
क्या वह उसे अपने जैसा सोना बना देगा ?
बिल्कुल नहीं।
कहिए, यह क्या स्पर्श-दीक्षा हुई ?
लोहे की छुरी ने पारस को छूआ,
और सोना बन गई,
परन्तु रही तो छुरी की छुरी,
धार, मार, आकार तो नहीं हट सका
परन्तु मेरी स्पर्श-दीक्षा देखिए,
जिसे छूता हूँ—बस, अपना-सा रूप दे देता हूँ।
दीपक, सच्चा दीपक बना देता हूँ,
फिर उसमें और मुझ में कोई अन्तर नहीं रहता।
वह भी मेरे समान ही
स्पर्श-दीक्षा देने वाला गुरुदेव हो जाता है
हजारों, लाखों को दीपक का रूप दे देता है।
वे दीपक फिर और दीपक जलाते हैं।
बस, दीपक से दीपक—दीपक से दीपक
हजारों, लाखों, करोड़ों दीपकों की विराट सेना
अन्धकार से जूझने को तैयार हो जाती है।
आप ही कहिए,
मुझ में और पारस में कैसी समता ?
बस, अब मैं अधिक न बोलूँगा।
मेरी संस्कृति में बोलना मना है,
यह तो केवल परिचय के लिए ही कुछ कहा जा रहा था।

मेरे यहाँ आत्म-विकल्पना पाप माना जाता है।
मैं बोलता नहीं, काम करता हूँ, काम—
वह भी चुपचाप, बिल्कुल चुपचाप !

२८

धर्म की परिभाषा

भावना-विशुद्धि --धर्म-साधना का एक-मात्र उद्देश्य है, भावना विशुद्धि। मन की मलिन भावना से मनुष्य का पतन होता है, और विमल भावना से उत्थान। जब तक संसार में मनुष्य जाति की सत्ता है, तब तक उसके अभ्युत्थान के लिए धर्म की आवश्यकता भी रहेगी। जीव-जगत् में मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ अन्य कोई नहीं है। परन्तु प्रश्न सबसे बड़ा यह है, कि मानव की श्रेष्ठता तथा ज्येष्ठता का आधार क्या है? उसकी आकृति अथवा उसकी प्रकृति। निश्चय ही उसकी महानता का आधार आकृति नहीं, उसकी प्रकृति है। भूख-प्यास लगने पर खा-पी लेना, थकने पर सो जाना, अपने जीवन को सुरक्षित रखने की चिन्ता और वासना की तृप्ति का प्रयत्न—ये चार बातें मनुष्य के समान पशु में भी हैं। फिर भी मनुष्य मनुष्य है, और पशु, पशु है। इस भेद-रेखा का आधार अवश्य होना चाहिए। वह

है—धर्म। धर्म की अभिव्यक्ति मानव में ही परिलक्षित होती है। धर्म कोई बाहर की वस्तु नहीं है, जिसको बाहर से भीतर डाला जाए। वह तो मनुष्य की अपनी शुद्ध चेतना का ही नाम है। अतः भावना-विशुद्धि ही तो धर्म है। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—स्वभाव और आचार। अपना स्वभाव तो प्रत्येक वस्तु में रहता ही है—जैसे अग्नि में उष्णता, मनुष्य में मनुष्यता। परन्तु जीवन-शोधन के लिए आचार एक परम तत्त्व है। सब धर्मों में आचार पहला धर्म है। आचार एक जीवन-तत्त्व है जो व्यक्ति में, समाज में राष्ट्र में और विश्व में व्याप्त है। जिस शक्ति से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व का मङ्गल होता है, वही धर्म है। वह धर्म तीन प्रकार का है—अहिंसा, संयम और तप।

अहिंसा : मानव का मूल धर्म—"अहिंसा परमो धर्मः" जैन-संस्कृति का यह एक पवित्र और प्राणभूत तत्त्व है। श्रमण-संस्कृति में यदि कोई स्वर्णसूत्र है, तो वह यह है—"जीओ और जीने दो।" जैन-धर्म का इतिहास एक प्रकार से अहिंसा के विविध प्रयोगों का इतिहास है। अहिंसा का अर्थ है—"विचार से, आचार से और उच्चार से किसी भी व्यक्ति के प्रति अकल्याण की भावना न रखना, संसार के सब जीव सुखी रहें, सब जीव स्वस्थ रहें, सबके जीवन का कल्याण हो, और संसार में कोई जीव दुखी न हो।" इस प्रकार की भावना को 'अहिंसा' कहा गया है। सबके सुख में अपना सुख समझना—यही तो अहिंसा है, यही तो परम धर्म है। मनुष्य दो कारणों से हिंसा करता है—रक्षण के लिए और भक्षण के लिए। जब गृहस्थ अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के रक्षण के लिए प्रयत्न करता है, तो उसमें हिंसा भी हो जाती है। परन्तु वह रक्षण की हिंसा है। गृहस्थ में स्वरक्षण

की शक्ति होनी ही चाहिए। परन्तु भक्षण के लिए, अपने स्वाद के लिए पशुओं की एवं पक्षियों की जो हिंसा की जाती है, वह तो स्पष्ट ही अधर्म है। एक तीसरे प्रकार की हिंसा भी प्राचीन भारत में प्रचलित थी—धर्म के लिए, अर्थात् यज्ञ के लिए। स्वर्ग के देवों को प्रसन्न करने के लिए पशु-पक्षियों को तथा मनुष्यों को भी यज्ञ-कुण्ड की ज्वालाओं में झोंक दिया जाता था। धर्म के नाम पर होने वाली यह हिंसा, अन्य हिंसाओं से अधिक भयङ्कर थी।

जैन-संस्कृति के धर्म-शास्त्राओं ने—तीर्थंकरों ने तथा गणधरों ने—मांसाहार और हिंसा-प्रधान यज्ञों का डटकर विरोध किया था। फलतः मनुष्य समाज हिंसा से धीरे-धीरे अहिंसा की ओर अग्रसर होता रहा है। क्योंकि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है, और हिंसा विभाव। अहिंसा के अमर आधार हैं—स्नेह, सहानुभूति और सहिष्णुता। जबकि हिंसा के आधार हैं—द्वेष, घृणा और ईर्ष्या। मनुष्य जब अपने में बन्द हो जाता है, तब उसमें से हिंसा फूट निकलती है। किन्तु ज्यों-ज्यों वह विराट होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें से प्रेम, दया, करुणा और सेवा के भाव प्रस्फुटित होते हैं। समाज, राष्ट्र और विश्व के संरक्षण के लिए अहिंसा का विकास आवश्यक है।

अहिंसा धर्म के उपदेष्टा—मानव-जाति के संरक्षण के लिए, मानव-समाज के कल्याण के लिए—भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि एवं कृषि का उपदेश, तत्कालीन मानव-समाज को दिया था। जीवन संचालन के लिए अन्न का उत्पादन आवश्यक था, आर्थिक विकास के लिए व्यापार आवश्यक था, और देश के संरक्षण के लिए न्यायपूर्वक तलवार का प्रयोग भी आवश्यक

था। भगवान् नेमिनाथ ने सुरा, सुन्दरी और मांस में संसक्त यादव जाति को अहिंसा का सन्देश दिया था। भगवान् पार्श्वनाथ ने अज्ञान-मूलक तप में होने वाली हिंसा का विरोध करके अहिंसा का प्रसार किया था। भगवान् महावीर ने धर्म के नाम पर होने वाली यज्ञ-हिंसा का विरोध करके अहिंसा को परमधर्म कहा था। अहिंसा के प्रसार एवं प्रचार में भगवान् बुद्ध का भी बहुत बड़ा योगदान था। वर्तमान में राष्ट्र-पिता गाँधी जी की अहिंसा के चमत्कारों को एवं व्यापक प्रभावों को संसार देख ही चुका है।

संयम : आत्मा का संगीत—संयम को एक कवि ने आत्मा का संगीत कहा है। संयम, आत्मा की एक शक्ति है। संयम, अध्यात्म-जीवन का आधार है। बिना संयम के मनुष्य की मनुष्यता जीवित नहीं रह सकती। संयम में स्वतन्त्रता तो रह सकती है, पर स्वच्छन्दता नहीं। यदि शरीर की भौतिक आवश्यकताओं पर आध्यात्मिक शक्ति का अंकुश न रखा जाए, तो मानव में पशुता का समावेश हो सकता है। इसी प्रकार मन और बुद्धि पर भी नियन्त्रण की आवश्यकता है। बिना अहिंसा के जीवन में मृदुता नहीं आती, और बिना संयम के अहिंसा का आचरण नहीं हो सकता। अतः अहिंसा के लिए संयम की नितान्त आवश्यकता है। इन्द्रियों के अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल विषयों में द्वेष पैदा हो जाता है। आसक्ति और घृणा—दोनों मन के विकार हैं। विकार को नष्ट करने के लिए विचार आवश्यक है। और, विचार ही तो वस्तुतः संयम है। जीवन को स्वस्थ, सुन्दर एवं सुखद बनाने के लिए संयम की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि बिना संयम के उत्कृष्ट कर्म, सत्कर्म नहीं किए जा सकते।

संयम जैन-संस्कृति की भव्य आत्मा है। जैन-संस्कृति का मूल आधार ही शुद्ध आचार है। संयम में सौन्दर्य है, शौर्य है और अद्भुत सामर्थ्य है।

संयम के प्रकार—संसार में अनेक प्रकार के पाप हैं, परन्तु मुख्य रूप में पाँच पाप हैं, जिनमें अन्य सभी प्रकार के पापों का समावेश किया जा सकता है। वे पाप ये हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह। उक्त पापों के आचरण से आत्मा का पतन हो जाता है। मनुष्य का नैतिक पतन हो जाता है। इनको पाँच आस्रव भी कहते हैं। इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच धर्म हैं, संयम हैं, संवर हैं, आचार हैं। इनकी साधना से मनुष्य जीवन का कल्याण होता है, उत्थान होता है। इनको पाँच संवर भी कहते हैं। पञ्च आस्रव संसार के कारण हैं, और पञ्च संवर मोक्ष के कारण। कुछ भोग-प्रिय लोग संयम को बन्धन कहते हैं। किन्तु यह उनकी भूल है, क्योंकि संयम बन्धन नहीं, एक नियन्त्रण है, जिसको साधक अपनी इच्छा से स्वीकार करता है।

संस्कृति का मूल बीज : तप—संस्कृति का मूल बीज तप है। अहिंसा की साधना के लिए संयम आवश्यक है, और संयम की सुरक्षा के लिए तप। तप की साधना करने वाला अहिंसा और संयम की साधना करेगा ही। तप क्या है? वह आत्मा का एक तेज है। आत्मा का दिव्य प्रकाश है। तप का अर्थ—न भूखे मरना है, और न शरीर को सुखा डालना ही। तप का वास्तविक भाव है, अपनी वासनाओं का दमन। विना तप के जीवन उर्वर नहीं बन सकता। वासना-वासित जीवन, धर्म की आराधना में सर्वथा असफल प्रमाणित होता है। वस्तुतः तपोहीन जीवन धर्म को

धारण नहीं कर सकता। अतः तप जीवन-शोधन का एक विशेष तत्व है। कष्ट सहिष्णुता, मनोनिग्रह और वासना-दमन ही वस्तुतः तप है। उपवास किया है, व्रत लिया है, अन्न एवं जल का त्याग कर दिया है, फिर भी मन में कषाय भावना और विषय लालसा बनी रहती है, तो वह व्रत नहीं, एक प्रकार का लंघन है, जो किसी से बाध्य होकर किया जाता है। बिना भावना के और बिना विवेक के किया तप, केवल देह-दमन है।

तप का शुद्ध स्वरूप—तप आत्मा के विकारों को नष्ट करने के लिए किया जाता है। अतः तप का सम्बन्ध आत्मा और मन से है। देह से बहुत कम। "तपो धर्मस्य हृदयम्"—तप को धर्म का हृदय कहा गया है, सार कहा गया है। तप क्या है? इसके उत्तर में कहा गया है कि—"कर्मणां तापनात् तपः।" जिस प्रकार तपाने पर सुवर्ण की मिट्टी सुवर्ण से दूर कर दी जाती है, उसी प्रकार तप से आत्मा के कर्मों को, विकारों को दूर किया जाता है। कर्मों का तापन जिससे हो,वही तप है। तप की साधना करने वालों को यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है, कि तप उतना ही करना चाहिए, जिससे मन में समाधि-भाव बना रहे। शक्ति न होने पर भी जो तप प्रशंसा पाने के लिए किया जाता है, वह तप सच्चा तप नहीं। तप के दो रूप हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। जीवन शुद्धि के लिए दोनों प्रकार के तपों की आवश्यकता है—मानसिक तप की भी, और शारीरिक तप की भी।

२९

क्रोध : एक विषधर

क्रोध एक विषधर सर्प है, जिसके डसने से आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। क्रोध से बुरा आत्मा का अन्य कौन शत्रु होगा ? क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य को किसी प्रकार का विवेक नहीं रहता। क्रोध एक प्रकार का मनोविकार है। क्रोधी मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता। क्रोधी मनुष्य अपने आपको संतुलित नहीं रख पाता। क्रोधी को अन्धा कहा गया है। क्योंकि जिस समय क्रोध आता है, उस समय मनुष्य को किसी प्रकार का विवेक नहीं रहता।

वैर का जन्म क्रोध से ही होता है। वहुत दिनों तक टिका क्रोध वैर एवं द्वेष वन जाता है। वैर एक पुरानी वीमारी के तुल्य है, और क्रोध एक क्षणिक आवेग का नाम है। क्रोध में पागल वन कर मनुष्य आगा-पीछा नहीं देखता। वैर चिरकाल तक स्थिर रहने वाला मनोविकार है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—

"दुःख पहुँचने के साथ ही दुःख-दाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करने वाला मनोविकार 'क्रोध' है, और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला भाव 'वैर' है। मान लो, किसी ने आपको गाली दी—और आपने यदि उसी समय उसे मार दिया, तो आपने क्रोध किया। कल्पना कीजिए—वह गाली देकर भाग गया और कुछ समय बाद आपको मिला। अब यदि आपने उसे विना गाली के सुने मिलने के साथ ही उसे मार दिया, तो यह वैर-भाव होगा।

वैर में भावनाओं को संचित करके मन में रोक रखने की धारणा शक्ति रहती है। जिन व्यक्तियों में पुराने क्रोध को संचित रखने की शक्ति है, वे ही वैर कर सकते हैं। क्रोध में क्षणिकता रहती है, और वैर एवं द्वेष में दीर्घकालिकता रहती है।

जो क्रोध मन में जीवन-भर बना रहता है, उसे शास्त्र की भाषा में अनन्तानुवन्धी क्रोध अथवा दीर्घ क्रोध कहते हैं। यह क्रोध ही वैर एवं द्वेष कहा जाता है। उक्त क्रोध से आत्मा का सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है। दीर्घ-क्रोधी तथा दीर्घ-रोषी मनुष्य अपने आत्म-स्वरूप को भूल जाता है। जो क्रोध मन में एक वर्ष से अधिक ठहर जाता है, वह देश-चारित्र को नहीं होने देता। वह श्रावक नहीं बन सकता।

जो क्रोध चार मास से अधिक जमकर मन में बैठ जाता है, वह क्रोध सर्वचारित्र का घात करता है। वह साधुत्व-भाव का विरोधी होता है। जो क्रोध पन्द्रह दिन तक रह जाता है, वह वीतराग-भाव नहीं होने देता। इस प्रकार एक ही क्रोध के विभिन्न कर्म होते हैं। वैर और द्वेष भी क्रोध के ही रूप हैं।

क्रोध मन को एक प्रकार की उत्तेजना से भर देता है, जिसके परिणाम-स्वरूप मन में अनेक प्रकार के विकार पैदा हो जाते हैं। क्रोध से पहले तो उद्वेग उत्पन्न होता है। फिर मन में एक प्रकार का ताप पैदा होता है। रक्त में गरमी आ जाती है और उसका प्रवाह तीव्र हो जाता है, क्योंकि क्रोध में विवेक और संतुलन नहीं रह पाता। क्रोध मन की शान्ति को भंग करने वाला विकार है। क्रोध के आने पर मन में शान्ति, प्रसन्नता एवं स्नेह नहीं रहता।

क्रोध का मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़े विना नहीं रहता। क्रोधी मनुष्य का रोग शीघ्र काबू में नहीं आता। क्रोध स्वयं भी एक प्रकार का भयंकर महारोग है। सद्विचार से मनुष्य के मन की प्रसुप्त शक्ति जाग उठती है और दुर्भाव से से जागृति शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः स्वस्थता के लिए मन का विकार-रहित होना आवश्यक माना गया है। मन जितना शान्त रहेगा, स्वास्थ्य-लाभ उतना ही अधिक स्थिर होगा।

यदि भोजन शान्त अवस्था में किया जाए, तो वह एक प्रकार से अमृत है। क्रोध की स्थिति में किया गया भोजन एक प्रकार का विष है। क्रोध के कारण वह भोजन विष बन जाता है, क्योंकि खाद्य-पदार्थों पर क्रोध के कारण दूषित प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति भोजन करते समय कुढ़ता रहता है, जिसके मुख से कुत्सित शब्दों का उच्चारण होता रहता है, और जो नाक-भौंह सिकोड़े मानसिक तनाव की स्थिति में जल्दी-जल्दी भोजन ठूँस लेता है, उसे भोजन में क्या स्वाद आएगा? उस भोजन से पौष्टिक तत्त्व कैसे प्राप्त होंगे? वह भोजन शरीर का पोषण नहीं कर सकेगा।

जिस समय क्रोध आया हो, उस समय जरा दर्पण के सामने जाकर देखो, आपका मुख-मण्डल कितना विकृत है ? कैसा भयंकर है ? कितना भद्दा है ? कितना भयावह है ? क्रोध मुख के सौन्दर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। क्रोध सौन्दर्य का शत्रु है। शान्त स्थिति में जो मुख-छवि सुन्दर एव मनोहर लगती है, क्रोध में वही भयानक और अभद्र लगने लगती है। क्रोध शरीर को निर्बल बनाता है। उसके सौन्दर्य को नष्ट कर डालता है। क्रोध मन को अपवित्र बना देता है। क्रोध बुद्धि को अस्थिर कर देता है। क्रोध आत्मा को मलिन बना देता है। क्रोध सब अनर्थों का मूल है। क्रोधी मनुष्य कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। उसका चेहरा पीला पड़ जाता है। शरीर सूख कर काँटा हो जाता है। पाचन-शक्ति मन्द पड़ जाती है। फिर धीरे-धीरे अनेक रोग शरीर में पैदा हो जाते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा है कि—"क्रोध प्रीति-भावना को नष्ट कर देता है। क्रोध को जीतने में ही मनुष्य की सच्ची विजय है। उपशम-भाव से, क्षमा से और शक्ति से क्रोध को जीता जा सकता है। जब क्रोध आए, तब क्षमा का चिन्तन करो। जब क्रोध आए, तब उपशम-भाव का विचार करो। जब क्रोध आए, तब शान्ति का विचार मन में भरो। क्रोध करने से क्रोध कभी शान्त नहीं होगा। शान्ति, क्षमा तथा उपशम-भाव से ही क्रोध नष्ट हो सकता है।"

क्रोध के परिणाम पर विचार करने से भी क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध के कारण पर विचार करने से भी क्रोध दब जाता है। विचार करो—उन महापुरुषों के जीवन पर, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है। क्रोध विजेताओं के जीवन का अनुसरण

करो। क्रोध, वैर एवं द्वेष का क्षय करने वाले अरिहन्तों के पथ का अनुगमन करो। अरिहन्तों का चिन्तन करने से आप भी अरिहन्त बन सकते हो। क्रोध, वैर एवं द्वेष को जीतने वाला ही अरिहन्त बन सकता है।

३०

मन की साधना

मनुष्य का मन बड़ा विचित्र है। यह मनुष्य को स्वर्ग भी ले जा सकता है, नरक भी ले जा सकता है, और यह मनुष्य को भव बन्धनों से विमुक्त भी कर सकता है। मनुष्य के मन में अपार बल है, अपार शक्ति है। मनुष्य को अपने मन पर संयम रखना चाहिए, क्योंकि मनुष्य का मन चंचल है। वह बन्दर की भाँति एक डाल से दूसरी पर, फिर तीसरी पर कूदता-फाँदता फिरता है। यह कभी एक वस्तु से परितृप्त नहीं होता। एक बार किसी विषय अथवा वस्तु से क्षणिक तृप्ति पाकर, फिर नयी वस्तु की कामना करने लगता है। मन को चिन्तन और मनन में लगाने से वह शान्त एवं स्थिर हो जाता है। विषयों में भटकने से तो वह और भी अधिक चंचल तथा अस्थिर बनता है। मन को साधने की कला ही वस्तुतः श्रेष्ठ कला है। 'योग दर्शन' में मन की पाँच भूमिकाएँ मानी गयी हैं—जो क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नाम से कही जाती हैं।

क्षिप्त—चंचल मन क्षिप्त कहलाता है। क्षण-क्षण में इधर से उधर भागने वाला, बार-बार विषयों में फिसलने वाला मन क्षिप्त होता है। क्षिप्त मन में विवेक और वैराग्य नहीं रहता।

मूढ—मोह ग्रस्त मन को मूढ कहते हैं। इस भूमिका के मन में न कभी ज्ञान का प्रकाश होता है, और न कभी किसी क्रिया के करने में अभिरुचि होती है। उसकी जड़ता बढ़ती रहती है।

विक्षिप्त जिस मन में कभी चंचलता बढ़ती है, तो कभी जड़ता। एकाग्रता बहुत कम रह पाती है। इस प्रकार के मन को विक्षिप्त कहा गया है। इसमें एकाग्रता आती तो है, परन्तु बहुत कम। क्षिप्त एवं मूढ की अपेक्षा यह फिर भी ठीक है।

एकाग्र - किसी एक वस्तु में अथवा किसी एक स्थान पर स्थिर रहने वाला मन एकाग्र होता है। यह एकाग्रता प्रयत्न साध्य है। निरन्तर की साधना से साधक अपनी सिद्धि को पा सकता है। एकाग्र मन ही योग-साधना में सफल हो सकता है।

निरुद्ध—निरुद्ध मन वह है, जिसमें किसी प्रकार का आलम्बन नहीं रहता। किसी भी प्रकार की वृत्ति उसमें नहीं रहती। यह योग की चरम-भूमिका है, जिसमें न अशुभ संकल्प रह पाते हैं, और न शुभ संकल्प ही शेष रहते हैं।

क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त इन पहली तीन अवस्थाओं का नाम नाम 'व्युत्थान' है। क्योंकि इनमें एकाग्रता की अपेक्षा चंचलता अधिक रहती है। इन तीनों में योग-साधना सम्भव नहीं हैं। चौथी एकाग्र अवस्था केवल किसी एक वस्तु के अवलम्बन पर होती है। इससे ऊपर उठकर जब किसी एक वस्तु के भी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती है, उस अवस्था को निरुद्ध कहते हैं।

जैन शास्त्र में मन के दो भेद हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन। भाव-मन प्रत्येक संसारी प्राणी को होता ही है। द्रव्य मन सभी को नहीं होता। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय को द्रव्य-मन होता है। द्रव्य मन के आधार से ही चिन्तन स्पष्ट होता है। द्रव्य मन में बड़ी शक्ति है। वह कभी शुभ का चिन्तन करता है, तो कभी अशुभ का। अशुभ चिन्तन को छोड़कर शुभ का चिन्तन करना ही वास्तव में कल्याण का मार्ग है। मन को सर्वथा संकल्प शून्य नहीं किया जा सकता। हाँ, उसे अशुभ से हटाकर शुभ में लगाया जा सकता है। इसी को मन का ऊर्ध्वीकरण कहते हैं। प्रशस्त मन कल्याण का कारण है, और अप्रशस्त मन पतन का कारण है। उत्थान और पतन मनुष्य के मन के खेल हैं।

३१

आत्मा की शक्ति

आत्मा, जड़ से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। भारत की प्रत्येक परम्परा ने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है। जड़वादी चार्वाक-दर्शन भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है—भले ही वह आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार करने को तैयार न हो। विवाद आत्मा की सत्ता में नहीं है, विवाद है—केवल आत्मा के स्वरूप में। स्वरूप में भिन्नता होने पर भी यह निश्चित है, कि आत्मा है। और वह शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सब से परे है। आत्मा ज्ञान रूप है। स्वभाव से वह परिशुद्ध है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, परन्तु विकारों के कारण वह शक्ति कुण्ठित हो रही है। साधना से उसकी प्रसुप्त शक्ति को जगाया जाता है। आत्मा की अनन्त शक्ति को जगाने के लिए कुछ गुणों का विकास आवश्यक है। गुणों के विकास से ही आत्मा का विकास होता है।

आत्म विश्वास—सब से पहले आत्म-विश्वास की आवश्यकता है। जो व्यक्ति अपना विकास चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है, कि वह आत्म-सत्ता में विश्वास करने का निरन्तर अभ्यास करता रहे। रूस के प्रसिद्ध लेखक गोर्की ने एक बार किसानों की एक विशाल सभा में भाषण करते हुए कहा था कि—"याद रखो, तुम इस धरती पर सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण व्यक्ति हो"—"Remember! you are the most necessary men on the earth." जब तक व्यक्ति स्वयं अपने आप को आवश्यक नहीं मानता, तब तक दूसरे उसे क्यों आवश्यक मानेंगे? आत्म-विश्वास की कमी के कारण मनुष्य किसी भी महान् कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता। आश्चर्य तो इस बात का है, कि अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी मनुष्य अपने-आप को तुच्छ, पामर, दीन और हीन समझता है। विकास के लिए अपनी शक्ति पर विश्वास करना आवश्यक है।

आत्म-ज्ञान—आत्म-ज्ञान का अर्थ है—अपने आप को पहचानना। मनुष्य दूसरों को जानने और समझने का तो प्रयत्न करता है, परन्तु वह अपने को भूल बैठता है। "मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? और मेरी शक्ति क्या, कैसी और कितनी है?" इन प्रश्नों का समाधान पा लेना ही वास्तव में आत्म-ज्ञान है। मनुष्य जितना अपने पड़ौसी को समझने का प्रयत्न करता है, उतना अपने को समझने का प्रयत्न वह नहीं करता। और यही उसकी दुर्बलता है। मनुष्य ने बहुत कुछ सीखा है। संस्कृति, कला, विज्ञान, इतिहास और समाज—इन सब को समझने का वह आज दावा करता है। परन्तु क्या कभी उसने अपने चेतन तत्त्व को भी परखने का प्रयत्न किया है? नभ, जल और स्थल—सर्वत्र

मनुष्य के कदम पहुँच चुके हैं। परन्तु यह निश्चित है, कि उसने अभी तक अपने अन्दर झाँककर नहीं देखा।

आत्म-विशुद्धि—आत्म-विशुद्धि का अर्थ है—आत्म-संयम। आत्म-संयम के बिना तो विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विश्वास हो, और साथ में ज्ञान भी हो, पर चलने की ताकत न हो, तो फिर सब कुछ व्यर्थ ही है। आत्मा के विकारों का दमन करना ही विशुद्धि है। इसी को संयम और आचार भी कहते हैं। विश्वास को ज्ञान में उतरने दो, ज्ञान को क्रिया में उतरने दो, तभी विकास हो सकेगा। विश्वास, ज्ञान और आचार—ये तीन कितने पवित्र शब्द हैं। इनकी पवित्रता को जीवन के कण-कण में रमने दो। फिर देखो, तुम क्या थे, अब क्या हो गए हो?

"आत्मा में अनन्त शक्ति है।" इस पर विश्वास करो, इसका चिन्तन और मनन करो, फिर अपनी सच्ची राह पर चल पड़ो। इससे बढ़कर विकास का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

३२

मन के विकार

मनुष्य की जिस मनोभूमि में विचार उत्पन्न होता है, वहीं पर विकार भी उत्पन्न होता है। विचार से विकास होता है, और विकार से विनाश। मन में जब विचार भरे होंगे, तब वहाँ विकारों को स्थान ही कहाँ मिलेगा? जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ अन्धकार आ ही कैसे सकेगा? विचार प्रकाश है, और विकार अन्धकार। मन में असंख्य प्रकार के विकार उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु यहाँ पर मुख्य-मुख्य विकारों का ही परिचय दिया जाएगा।

भावुकता—भावुकता मन का एक विकार है। भावुकता मनुष्य को असामाजिक बना देती है। इस भावनात्मक विकार का जन्म मनुष्य में बाल्य-काल से ही हो जाता है। भावुक व्यक्ति में विचार करने की शक्ति नहीं रहती। भावना के तीव्र वेग में वह इतना प्रवाहित हो जाता है कि अपनी शक्ति का

सन्तुलन और उपयोग भी वह नहीं कर पाता। अपने आप को जब तक भावुक व्यक्ति किसी ठोस काम में संलग्न नहीं कर लेता, तब तक वह भावुकता के विकार से मुक्त नहीं हो सकता। भावुक व्यक्ति यथार्थवाद को भूलकर केवल आदर्शवादी बन जाता है। जहाँ विचार की आवश्यकता होती है, वहाँ भी वह भावना की तरल तरंगों में बहने लगता है।

मानसिक रोग का एक रूप यह भी है, कि मनुष्य अपनी अतिशय भावुक मनोवृत्ति के कारण समाज के साथ सम्पर्क नहीं बना सकता, क्योंकि वह एक प्रकार से स्वप्न-दर्शी बन जाता है। पलायनवाद की वृत्ति उसमें जड़ जमाकर बैठ जाती है। सामाजिक समरसता का उसमें अभाव हो जाता है, और वह एकान्त में बैठकर दिवा स्वप्न ही देखा करता है। कर्म करने की क्षमता उसमें नहीं रहती।

लोभ—संग्रह की वृत्ति संसार के प्रत्येक प्राणी में कम अथवा अधिक रूप में मिलती है। शास्त्र में इसको परिग्रह संज्ञा कहा गया है। परन्तु जब यह वृत्ति अतिवाद की रेखा को पार कर लेती है, तब वह एक विनाशकारी विकृति बन जाती है।

धन का लोभ आज के संसार में सब से बड़ा बन्धन बन गया है। यह ठीक है, कि धन के बिना जीवन के उपयोगी कार्य नहीं हो पाते, किन्तु धन को ही लक्ष्य मानकर जीना और धन के लिए ही मर मिटना, एक प्रकार का पागलपन ही है। धन का सब से बड़ा उपयोग है—सुख और सुरक्षा। पर यह सब से बड़ा धोखा है। धन सुख ही देता, तो धनी दुःखी क्यों होता? धन से ही जीवन की सुरक्षा हो सकती, तो धनी क्यों मरता? अतः धन

को ध्येय समझना एक विकार है। विश्वास करो—"धन साधन है, साध्य नहीं।"

क्रोध—क्रोध भी मन का एक विकार है। क्रोध मन को विकृत कर डालता है। क्रोध का आधार मनुष्य की अपनी मनोवृत्ति है, न कि वह वस्तु जो क्रोध का लक्ष्य बनती है। असंयत क्रोध, एक वह विकार है, जो मनुष्य के मन को, बुद्धि को और शरीर को भी अशक्त कर डालता है। बिना विवेक-बुद्धि के क्रोध पर विजय पाना कठिन है। क्रोध आने पर मनुष्य को अपने आप से ये प्रश्न पूछने चाहिएँ—

१. मैं किस लिए क्रोध करता हूँ ?
२. क्या क्रोध का कारण सच्चा है ?
३. मेरे क्रोध का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?
४. क्या क्रोध करने से परिस्थिति में परिवर्तन आ सकेगा ?
५. यदि नहीं, तो फिर मैं व्यर्थ क्रोध क्यों करूँ ?

इन प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करने पर क्रोध का वेग कम होता जाएगा।

काम—काम, मन का सब से भयंकर विकार है। कामी मनुष्य को कहीं पर भी शान्ति नहीं मिल पाती। वह सर्वत्र तिरस्कार ही पाता है। काम के विकार से मन चंचल हो जाता है, बुद्धि मलिन हो जाती है और शरीर क्षीण हो जाता है। काम के ताप से परितप्त मनुष्य सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है। कामी मनुष्य न संसार की साधना कर सकता है, और न मोक्ष की साधना ही कर सकता है। ब्रह्मचर्य की कठोर साधना से इस विकार को जीता जा सकता है।

भय—मनुष्य के मन के विकारों में भय भी एक भयंकर विकार है। भयानकता किसी वस्तु में नहीं होती, वह होती है—मनुष्य के मन की कायरता में। आत्म-विश्वास की कमी से ही भय उत्पन्न होता है। असफलता की भावना से मनुष्य भयभीत हो उठता है। अपनी असुरक्षा की सम्भावना भी मन में भय को पैदा करती है। जिस काम से आपको भय लगता है, वही करो, भय पर विजय पा सकोगे।

संशय—जिस व्यक्ति को अपनी साधना में संशय होता है, वह कभी सफल नहीं हो सकता। संशय-शील व्यक्ति को हर समय यही ध्यान रहता है, कि लोग उसकी आलोचना कर रहे हैं, उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं। यह दुर्भावना जब मनुष्य के मन को चारों ओर से घेरे लेती है, तो उसे लगता है, कि सारी दुनिया उसकी दुश्मन है, उसका दोस्त कोई नहीं है। अपनी शक्ति और योग्यता पर विश्वास न होने के कारण ही मनुष्य के मन में संशय उत्पन्न होता है। आत्म-श्रद्धा और आत्म-विश्वास से ही संशय के विकार को नष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार के मनोविकार अस्वस्थ मन में ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार शरीर के रोग शरीर को दुर्बल बना डालते हैं, उसी प्रकार मन के विकार मन को निर्बल बना देते हैं। इन विकारों को दूर करके ही मनुष्य अपने मन को स्वस्थ एवं बलवान् बना सकता है।

३३

शक्ति का स्रोत : ब्रह्मचर्य

आध्यात्मिक विकास, मानसिक उन्नति और शारीरिक अभिवृद्धि के लिए ब्रह्मचर्य की परम आवश्यकता है। वीर्य एक शक्ति है, जिसका संरक्षण अध्यात्म-दृष्टि से ही नहीं, भौतिक दृष्टि से भी आवश्यक है। ओजस्, तेजस् और कान्ति—ये सब वीर्य शक्ति के ही चमत्कार हैं। वीर्य की महत्ता का इससे प्रबल प्रमाण और क्या होगा, उसी से जीवन की उत्पत्ति होती है। वह प्राणी को बनाने वाला एक प्राण-दायक तत्त्व है। 'सुश्रुत' में वीर्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है—"प्रभूत-कार्य-कारिणि गुणे वीर्यम्।" अर्थात्—वीर्य उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें विशेष कार्य करने का गुण हो। प्राणी के शरीर में प्रधान तत्त्व वीर्य ही होता है। वीर्य ही शरीर को पुष्टि देता है, वही रोगों के बाहरी आक्रमण से उसे बचाता है और मन की धीरता, गम्भीरता एवं शान्ति को बरकरार रखता है। यह बात तो स्पष्ट ही है, कि

वीर्य-हीन की अपेक्षा वीर्य-सम्पन्न व्यक्ति—अधिक बलवान्, अधिक योग्य और अधिक सक्षम होता है।

'सुश्रुत' में कहा है, कि—"अन्नात्रेतः सम्भवति" अर्थात् वीर्य अन्न से बनता है। अतः इसको अन्न-विकार भी कहते हैं। आहार की शुद्धता से ही शुद्ध वीर्य बनता है। उत्तेजक पदार्थों के सेवन से और मादक द्रव्यों के सेवन से वह विकृत हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप चित्त में चंचलता और शरीर में विकार की उत्पत्ति होने लगती है। अतः ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए शुद्ध एवं सात्त्विक आहार ही लेना चाहिए।

मन की वासना से भी वीर्य प्रभावित होता है। मन में वासना उठने पर उत्तेजना होती है। वासना के बार-बार उठने पर शरीर की शक्ति का ह्रास होता है। अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मानसिक संयम आवश्यक है। बिना संयम के ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के शरीर का तत्त्व भाग वीर्य है। बुद्धिमान् लोग वीर्य-रक्षा को जीवन का लक्ष्य बिन्दु मानते हैं। वीर्य के नाश से जीवन का विनाश हो जाता है। भोजन से पहले जो तत्त्व बनता है, उसे रस कहते हैं। रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से 'वीर्य' बनता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सार वीर्य है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को पाश्चात्य पण्डितों ने भी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। आयुर्वेद के अनुसार वीर्य का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।

पाश्चात्य शरीर-विज्ञान के पण्डित वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उनके कथनानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न

होता है। वे लोग उसे सम्पूर्ण शरीरस्थ भी नहीं मानते हैं। परन्तु दोनों विद्वान् इस विषय में एक मत हैं, कि वीर्य शरीर का एक महामूल्यवान् तत्त्व है।

वीर्य की अभिवृद्धि और उसकी क्षति का सीधा प्रभाव मनुष्य के मस्तिष्क पर भी पड़ता है। बुद्धि को सतेज बनाए रखने के लिए और शरीर को सक्षम बनाए रखने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन परम आवश्यक है। शरीर से, इन्द्रियों से, मन से और बुद्धि से इस व्रत का पालन होना चाहिए। इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिरोध के बिना इस व्रत का पालन सम्भव नहीं है।

नेत्र और रूप—रूप, नेत्र का विषय है। मनुष्य के मनोविकार को जागृत करने के लिए नेत्र बहुत काम करते हैं। जिधर आँखें उठाते हैं, उधर ही उन्हें खींचने वाले प्रलोभन नजर आते हैं। नाटक, सिनेमा, नृत्य, संगीत और रंग-रूप—ये सब मिलकर मन पर आक्रमण करते है, प्रसुप्त मन को जागृत करते हैं। प्राचीन ऋषियों ने "नर्तनं गीत वादनं" कहकर इन सब का निषेध किया है। ब्रह्मचर्य के नियमों में दर्पण देखने का भी निषेध किया है, क्योंकि दर्पण में देखने से भी विकार जागृत होता है। अतः नेत्र-संयम ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है।

श्रोत्र और शब्द—शब्द, श्रोत्र का विषय है। नृत्य के साथ-साथ कान के व्यसन गीत आदि का भी ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले के लिए निषिद्ध है। गाने-बजाने का अधिकार ब्रह्मचारी को नहीं दिया गया, क्योंकि गाना-बजाना ब्रह्मचर्य में हानिकर है।

घ्राण और गन्ध—गन्ध, घ्राण का विषय है। बाजार तरह-तरह के गन्धों से भरा पड़ा है। फूलों से जो सुगन्धित पदार्थ

वनते हैं, वे भी मनुष्य की वासना को उद्बुद्ध करते हैं। ब्रह्मचारी के लिए फूल, इत्र और चन्दन आदि पदार्थों का निषेध इसी भावना से किया गया है। सादा जीवन और उच्च विचार ही ब्रह्मचारी का परम धर्म है।

स्पर्शन और स्पर्श—स्पर्श, स्पर्शन का विषय है। स्पर्श, वासना का आदि और अन्त है। स्पर्श वासनामय मनोभावों को जागृत करने का सब से वड़ा साधन है। जो व्यक्ति स्पर्श की भयानक आँधी से वच जाता है, वह उनके बुरे परिणामों से भी वचा रहता है।

रसना और रस—रस, रसना का विषय है। रसीले और मादक पदार्थ ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध हैं। खटाई, मिठाई, मिरच-मासले और सुरा, तम्बांकू, भङ्ग, चाय एवं काफी आदि का सेवन ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। इन सव का ब्रह्मचर्य पर वहुत बुरा असर होता है। शरीर की रक्षा के लिए भोजन तो आवश्यक है, परन्तु पेटूपन तो एक प्रकार का रोग ही है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए तामसिक और राजसिक भोजन का निषेध है। केवल सात्त्विक भोजन से ही ब्रह्मचर्य की रक्षा हो सकती है।

पहला नियम—ब्रह्मचर्य का अर्थ है—वासना जय। किसी भी बुरी आदत को छोड़ने का पहला नियम यह है, कि अपनी पूरी इच्छा-शक्ति लगा दो अपने मन में संकल्प करो, कि—"मैं इस बुरी आदत को छोड़ रहा हूँ, विल्कुल छोड़ रहा हूँ। अव फिर कभी इस बुरे काम को मैं नहीं करूँगा।"

दूसरा नियम—जव तक नयी आदत पूरी तरह से जीवन में स्थान न वना ले, तव तक एक क्षण के लिए भी उसमें ढील न

होने दो। युद्ध में छोटी-सी भी विजय आगे आने वाली बड़ी विजय में सहायक होती है। इसी प्रकार छोटी-सी पराजय भी और पराजय की तरफ ले जाती है। 'एक बार और' बस यह ढील ही इच्छा-शक्ति को, संकल्प बल को कमजोर बनाती है। अतः सावधानी आवश्यक है।

तीसरा नियम—जो संकल्प करो, उसे क्रिया में लाने का जो भी मौका मिले, उसको कसकर पकड़ लो। अवसर यदि हाथ से निकला, तो सदा के लिए ही निकला समझो। बीता समय कभी लौटकर नहीं आता। शुभ संकल्प को जितना जल्दी हो सके, आचरण में उतारने का प्रयत्न करो।

चौथा नियम—जो आदत डालना चाहते हो, उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ काम प्रतिदिन किया करो! समस्या और उलझन से परेशान और हैरान होने की जरूरत नहीं है। उनका हल निकालने का प्रयत्न करो, सफलता अवश्य ही मिलेगी।

'ब्रह्मचर्य' यह एक चार अक्षरों का छोटा-सा शब्द है, किन्तु इसका भाव बहुत गम्भीर है। 'वीर्य' रक्षा ब्रह्मचर्य का स्थूल रूप है। 'ब्रह्म' का अर्थ है—महान् और 'चर्य' का अर्थ है—विचरना। अर्थात् 'महानता में विचरना ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है। लघु से विराट् होना ब्रह्मचर्य है।'

३४

तुलनात्मक-विचार

भिक्षु जीवन की गति-विधि के सम्बन्ध में जैनागमों में बहुत कुछ लिखा है। क्यों नहीं, श्रमण संस्कृति का केन्द्र बिन्दु भिक्षु ही रहा है। अतः उसके साधनामय जीवन के सम्बन्ध में जैनागमों में विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रस्तुत लेख में सुप्रसिद्ध आचार शास्त्र "दशवैकालिक" की एक गाथा उद्घृत की जा रही है, जिस में बतलाया गया है, कि भिक्षु को गृहस्थ के घर से भिक्षा किस प्रकार ग्रहण करनी चाहिए।

बौद्ध धर्म भी श्रवण संस्कृति का अङ्गभूत रहा है। अतः बौद्ध पिटकों में भी भिक्षु जीवन का विधि-विधान उपलब्ध होता है। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ "धम्म पद" में भी एक गाथा ऐसी मिल रही है, जो "दशवैकालिक" की गाथा से शब्द, अर्थ और भाव—तीनों में बहुत कुछ मिलती-जुलती-सी है। मैं

पाठकों के समक्ष दोनों गाथाएँ रख रहा हूँ। आप पढ़िए और विचार कीजिए कि दोनों में कितनी समता रही हुई है।

"जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं,
ण य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।"

अर्थात्—"जैसे वृक्ष के फूलों पर आकर भ्रमर फूलों को जरा भी हानि न पहुँचा कर, उचित मात्रा में रसपान करके अपने आपको परितृप्त कर लेता है, वैसे ही भिक्षु भी गृहस्थ के घर से उचित भक्त-पान ग्रहण करके अपना जीवन निर्वाह करता रहता है।"

अब जरा "धम्म पद" गाथा भी पढ़िए—

"यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे।"

अर्थात्—"जैसे भ्रमर पुष्प के रूप और गन्ध को क्षति पहुँचाए बिना ही रसपान करके दूर भाग जाता है, वैसे ही भिक्षु को भी गृहस्थ के घर से थोड़ा भोजन लेना चाहिए।"

प्रतिपाद्य विषय—जैनागमों में भिक्षु के लिए "महुगार समा" अर्थात् "मधुकर समाः" विशेषण आता है। जिसका अर्थ है—भ्रमर के समान जीवन बिताने वाला। जिस प्रकार भ्रमर किसी एक ही फूल के आश्रित न होकर, अनेक फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस-संचय करके अपनी आत्मा को परितृप्त कर लेता है, उसी प्रकार भिक्षु भी गृहस्थ के घरों से अपनी विधि के अनुसार भक्त-पान ग्रहण करता है। जहाँ से मिला और जैसा मिला, खा-पीकर अपनी साधना में रत रहता है। वह जीवित रहने के लिए भोजन करता है, भोजन करने के लिए जीवित नहीं रहता। जैनागमों में

अनेक स्थानों पर "गोचरी" मधुकरी और भ्रमर-वृति का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "मनुस्मृति" में भी संन्यासी के लिए मधुकरी का विधान है। अतएव जैनागमों में "अहागडेसु रीयन्ते" कहा है। जिसका तात्पर्य है, कि भिक्षु गृहस्थ के घर जैसा भोजन तैयार है, उसी में से थोड़ा-सा ग्रहण कर लेता है। स्वयं के लिए वनाया हुआ ग्रहण नहीं करता।

शब्द साम्य और छन्द—दोनों गाथाओं में शब्द प्रायः एक जैसे ही हैं, क्योंकि अर्धमागधी और पाली भाषा में बहुत समानता है। भेद केवल इतना ही है कि पाली भाषा संस्कृत भाषा से अधिक निकट है, जब कि अर्धमागधी कुछ दूरवर्तिनी रहती है। पाली में "तथापि" और "रसमादाय" आदि पद अविकल रूपेण प्रयुक्त हैं, परन्तु मागधी में यथा का—"जहा" और "आपिवति" का "आवियइ" रूप बन जाते हैं। फिर भी उक्त गाथाओं की भाषा में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता।

भाषा के मुख्य गुण हैं—प्रसाद और माधुर्य। "धम्मपद" की गाथा में वैसा प्रसाद तथा माधुर्य नहीं है, जैसा "दशवैकालिक" की गाथा में देखा जाता है। उसकी भाषा में दुरूहता भी नहीं है, जबकि "धम्मपद" की गाथा में "अहेठयं" पद का अर्थ साधारण मनुष्य नहीं समझ पाता। प्रसाद, माधुय और सुवोध्यता की दृष्टि से "दशवैकालिक" की गाथा श्रेष्ठ एवं सुन्दर है।

भाषा के साथ छन्द का भी सम्वन्ध है। वैसे तो "धम्मपद" और "दशवैकालिक" सूत्र में उपजाति छन्द का भी प्रयोग किया गया है। अनुष्टुप् छन्द का क्षेत्र वहुत विस्तृत है। प्रायः औपदेशिक और दार्शनिक ग्रन्थों में इसी छन्द का प्रयोग अधिक मिलता है।

अलंकार—अलंकार का अर्थ है—काव्य की सजावट। अलंकार शास्त्र में "उपमा" बहुत ही प्रसिद्ध अलंकार रहा है। उपमा का अर्थ है—लिखने का एक ढंग, जिसे अंग्रेजी में : Stylo : स्टाइल कहते हैं। उपमा अगर सुन्दर हो और उसका व्यवहार उचित स्थान पर किया जाए, तो उससे काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है। उपमा का प्रयोग रचना का एक खास ढंग है। काव्य की बात छोड़िए, रोज की बोलचाल में भी हम उपमाओं का प्रयोग किया करते हैं। जैसे कि "ताड़-सा लम्बा" चाँद-सा मुखड़ा और कमल से नेत्र आदि।

जैनागमों में भी अलंकारों का और विशेषतः उपमा का खुलकर प्रयोग किया गया है। उपमा के द्वारा किसी भी गहन विषय को बड़ी सरलता से समझाया जा सकता है।

उक्त दोनों गाथाओं में उपमा अलंकार है, और उसके द्वारा शास्त्रकारों ने भिक्षु जीवन की महत्ता बड़े सुन्दर ढंग से प्रतिपादित की है। यहाँ भिक्षु उपमेय है और भ्रमर उपमान, गृहस्थ उपमेय है और पुष्प उपमान। गृहस्थ को पुष्प बतलाकर भिक्षु को भ्रमर बतलाया गया है। यह उपमा कितनी सुन्दर रही है। इस ढंग की उपमाएँ आगमों में स्थान स्थान पर उपलब्ध हो सकती हैं। उपमा के द्वारा वक्तव्य विषय को समझाने का ढंग बहुत ही प्राचीन काल से चला आ रहा है।

भावाभिव्यक्ति—भावों की अभिव्यक्ति, भावनाओं की अभिव्यंजना और भावों का सुन्दर ढंग से प्रकटीकरण जैसा दशवैकालिक सूत्र की गाथा में बन पड़ा है, वैसा धम्म-पद की गाथा में नहीं। "भमरो आवियइ रसं" में जो सौन्दर्य है,

वह "पलेति रसमादाय" में नहीं है। अर्थात् भ्रमर रस लेकर भाग जाता है। भागना तो भय से होता है। क्या रस-पान करते समय उस पर कोई प्रहार करता है? जिससे वह भाग खड़ा होता है। और "रसमादाय" इससे कोई मर्यादा द्योतित नहीं होती। "आवियइ रसं" भ्रमर पुष्पों से रस-पान करता अवश्य है। परन्तु मर्यादा से, उचित मात्रा में ही पान करता है। "आङ्पूर्वक पा" धातु का अर्थ है—मर्यादा से पान करना। गाथा के चतुर्थ चरण में यह भी बतला दिया कि भ्रमर ने अपनी परितृप्ति भी कर ली और पुष्प को किसी प्रकार की क्षति भी नहीं पहुँचाई। "सो य पीणेइ अप्पयं" से कितनी सुन्दर भावाभिव्यक्ति हो रही है। और "किलामेइ" का जो महत्त्व है, वह "अहेठयं" का नहीं हो सकता।

परन्तु धम्म-पद गाथा की अपनी एक विशेषता भी है, जो दूसरी गाथा में नहीं है। वहाँ पुष्प का एक विशेषण भी है, "वण्ण गन्धं" भ्रमर पुष्प के वर्ण और गन्ध को क्षति नहीं पहुँचाता। मात्र रस को ही ग्रहण करता है। यहाँ पुष्प का "वण्ण गन्धं" विशेषण बहुत ही सुन्दर रहा है।

संक्षेप-विस्तार—"गागर में सागर" भर देना ग्रन्थकार का एक बहुत बड़ा गुण माना जाता है। धम्म-पद की गाथा में उक्त गुण सुन्दर ढंग से प्रयुक्त हुआ है। उसके चतुर्थ चरण में "एवंगामे मुनी चरे" कहकर कमाल कर दिया है। दशवैकालिक की चार गाथाओं में जो भाव है, वह सब इस एक ही गाथा से अभिव्यक्त हो गया है। इसका कारण यह है कि इसमें "उपमेय" (मुनि) पद का समावेश है, जब कि दूसरी गाथा में उसका निर्देश नहीं किया

गया है। संक्षेप की दृष्टि से धम्म-पद की गाथा बहुत सुन्दर रही है।

इस ऊहापोह से यह भली-भांति ज्ञात हो जाता है कि जैनधर्म के आचार-विचार की छाप बौद्ध साहित्य पर स्पष्ट झलक रही है। भिक्षु जीवन से सम्बन्धित बौद्ध गाथा, जैन गाथा का शब्दशः और भावतः अनुवाद मात्र है। इस प्रकार और बहुत-सी गाथाएँ भी मिलती हैं। परन्तु यहाँ उक्त गाथाओं पर ही विचार किया है।

३५

महाप्राण वीर लोकाशाह

जैन-संस्कृति का मूल बीज है—"विचार और आचार।" गम्भीर चिन्तन और प्रखर आचार—"स्थानकवासी जैन-संस्कृति का यही मूल केन्द्र है। स्थानकवासी जैन-धर्म का मौलिक आधार है—चैतन्य देव की आराधना और विशुद्ध-चारित्र की साधना। साधक को जो कुछ भी पाना है, वह अपने अन्दर से ही पाता है। विचार को आचार का रूप देना है।"

धर्म-प्राण लोकाशाह ने यही तो किया। समाज जब स्थूलत्व की ओर आकर्षित हो रहा था, तब वीर लोकाशाह ने कहा—"यह धर्म का मङ्गलमय मार्ग नहीं। धर्म तो आत्मा की वस्तु है। उसे बाहर में मत देखो।" संत संस्कृति का जो मूल स्वर था, लोकाशाह की वाणी में वही झंकृत था।

ज्ञानी होने का सार है—संयमी होना। संयम का अर्थ है—अपने आप पर नियन्त्रण रखना। यह नियन्त्रण किसी के दबाव से

नहीं, स्वतः सहज भाव में होना चाहिए। मानव जीवन में संयम व मर्यादा का बड़ा महत्त्व है। जब मनुष्य अपने आपको संयम व मर्यादित रखने की कला हस्तगत कर लेता है, तब वह सच्चे अर्थ में ज्ञानी होता है।

भौतिकता से हट कर अध्यात्म-भाव में स्थिर हो जाना, यही तो स्थानकवासी जैन-धर्म का स्वस्थ और पूर्ण दृष्टिकोण कहा जा सकता है। आत्म-देव की आराधना के साधन भी अमर ही होने चाहिए। शाश्वत की साधना अशाश्वत से नहीं की जा सकती।

लोकाशाह एक ऐसे युग में आया, जब कि भारत अन्दर की ओर न निहार कर बाहर की ओर झाँक रहा था। जन यह भूलता जा रहा था, कि जिनत्व, निजत्व में नहीं, कहीं बाहर में है। स्थानकवासी धर्म ने नारा लगाया कि—"यदि जिनत्व पाना हो, तो निजत्व की साधना करो।"

उस युग के क्रान्तिकारी वीर लोकाशाह ने कहा—

"सर्वतो महान् वह है, जो अपने को अपने अनुशासन में रख सकता है। संयम से ही विकारों का दमन होता है, और विचारों का उन्नयन होता है।"

जीवन विकास का यह मूल मन्त्र है, जो उस युग की जनता को लोकाशाह ने दिया था। वीर लोकाशाह के विशुद्ध विचारों का विरोध भी तो बहुत हुआ, पर उस वीर ने विरोध में भी विनोद ही माना।

लोकाशाह ने उस युग के साधकों को संलक्ष्य करके कहा—"संयम का ध्येय आध्यात्मिक उन्नयन है, न कि अपने आदर-

सत्कार की संयोजना। जो व्यक्ति संयम-हीन है, वह ज्ञान-हीन भी होगा ही। क्योंकि संयम-साधना युक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। अन्यथा "ज्ञानं भारः क्रियां विना।"

स्थानकवासी जैन-धर्म की विशुद्ध परम्परा प्रखर आचार और चैतन्य देव की आराधना, साधना और उपासना में ही है। आचार और विचार का सन्तुलन ही वस्तुतः धर्म का आधार है।

लोकाशाह का सम्पूर्ण जीवन विचार और आचार के समन्वय में ही व्यतीत हुआ था। जीवन की विकृति उसे रुचिकर नहीं थी। वह जिनत्व संस्कृति का उपासक था।

महाप्राण वीर लोकाशाह आज नहीं है, परन्तु उसके विचार आज भी समाज को अनुप्राणित कर रहे हैं। जिस विचार-ज्योति को लेकर वह चला था, वह आज भी राह भूले राहियों को सही राह की ओर इशारा कर रही है।

३६

विचार-कण

श्रमण संस्कृति हो या ब्राह्मण संस्कृति, हमें नाम पर संघर्ष नहीं करना है। हमारे पास तो संस्कृति के संस्कृतित्व को नापने का एक ही गज है। जो संस्कृति मानव-समाज के लिए यह सन्देश देती हो कि—"तुम खुद जिन्दा रहो और दूसरों को भी जिन्दा रहने दो"—वही संस्कृति वस्तुतः सच्ची संस्कृति है। इतना ही नहीं, संस्कृति को आगे बढ़कर यह भी अमर प्रेरणा देनी होगी कि समय आने पर दूसरों को जिन्दा रखने के लिए योग्य सहायता भी दो, सेवा भी करो। और हाँ, संस्कृति की अन्तिम भूमिका पर पहुँचने के लिए, कभी किसी पर मरण-मूलक संकट-काल आ पड़े तो दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपना जीवन तक भी हर्ष-भाव से अर्पण कर दो ! है कोई ऐसी संस्कृति, जो अपने को इस जीवनोत्सर्ग की कसौटी पर कसने के लिए तैयार हो ?

× × × ×

मनुष्य ! तेरे पढ़ने के लिए सबसे अच्छी पुस्तक तू स्वयं ही है ! तेरे अन्दर में जीवन के रहस्य एक नहीं, दो नहीं, हजार नहीं, लाख नहीं, करोड़ नहीं, अर्व नहीं, अपितु अनन्त हैं—अनन्त ! जब तू अपने अन्दर झाँकेगा, तो सब भेद खुलकर स्पष्ट हो जाएँगे ।"

किसी दार्शनिक का यह सिद्धान्त, वह सिद्धान्त है, जो मानव-जाति के लिए कभी भी भूलने की चीज नहीं है—"मनुष्य ही मनुष्य के लिए सबसे अधिक अध्ययन करने की वस्तु है ।"

× × × ×

वही समाज और राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी गोद में अधिकाधिक उदार, संयमी, तपस्वी, दयालु और प्रसन्न आत्माएँ फलती-फूलती हों ! और जो समय पर जीने और मरने की कला जानता हो ! और जिसका सबसे बड़ा देवता या ईश्वर मनुष्य हो ! और जो भू-मण्डल-भर की श्रेष्ठता एवं नैतिकता को अपने जीवन में सहर्ष आत्मसात् कर सके !

× × × ×

त्याग एवं तपस्या का प्रतीक ब्राह्मण है, शक्ति एवं संयम का प्रतीक क्षत्रिय है, संग्रह एवं वितरण का प्रतीक वैश्य है तथा सेवा का प्रतीक शूद्र है । इनमें कोई उच्च नहीं, कोई नीच नहीं । चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक बनकर राष्ट्र को अभ्युदय एवं निःश्रेयस के सर्वोच्च शिखर तक ले जाने में पूर्णतया समर्थ एवं सफल हों, इसी भावना से प्रेरित होकर उक्त सामाजिक व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ था ! दुर्भाग्य से वह शृङ्खला आज टूट चुकी है । आज रह गया है, केवल जन्म-जात जातीय अहंकार या हीन भाव ! एक तरफ ऊँचे-ऊँचे टीले हो गए हैं, तो दूसरी तरफ

गहरे-गहरे गड्ढे। इस अन्तर को मिटाने में ही, जन्म के स्थान पर कर्म को महत्व देने में ही जनता का कल्याण है।

× × × ×

कभी कुछ क्रान्तियाँ आँधी की तरह आती हैं और पानी की तरह बह जाती हैं। आँधी जब आती है, तो क्या होता है? जमीन और आसमान एक रूप हो जाते हैं, एक भूकम्प! एक झटका! धक्के पर धक्के! ऐसा मालूम होता है, मानो सब उड़ जाएगा, अब कुछ भी स्थिर न रह सकेगा! परन्तु आँधी का जीवन कितना क्षण-भंगुर! वृक्षों को गिरा देना, छप्परों को उड़ा देना, सब ओर कूड़ा ही कूड़ा फैला देना, यही तो काम है आँधी का! जरा से जीवन में इतनी अव्यवस्था! इतनी तोड़-फोड़! ऐसी क्रान्ति हमें नहीं चाहिए। हमें चाहिए विकाश की क्रान्ति, व्यवस्था की क्रान्ति!

× × × ×

घास जितनी जल्दी उगती है, उतनी ही जल्दी सूख भी जाती है। वट-वृक्ष का विकाश जितना ही धीरे-धीरे होता है, उतना ही वह स्थायी तथा पीढ़ियों तक चलने वाला होता है! बताओ, तुम्हें घास बनना है या वट-वृक्ष! विकाश के प्रति शीघ्रता न करो! यदि प्रगति धीमी है, तो कोई हानि नहीं! वह तुम्हारे लिए वरदान प्रमाणित होगी! धुआँधार वर्षा की अपेक्षा रिम-झिम वर्षा अधिक लाभप्रद है! तूफानी वर्षा का जल बह जाता है, परन्तु रिम-झिम बरसने वाला जल भूमि में गहरा बैठ जाता है, खेतों को हरा-भरा कर देता है!

× × × ×

भवन-निर्माण के कार्य में कुशल राज एक ईंट से दूसरी ईंट किस प्रकार जोड़ता है, दो ईंटों के बीच कभी दरार न पड़े, इसके लिए वह किस मसाले का उपयोग करता है, ईंट अच्छी हो—इसके लिए वह उसे जोड़ने के पहले किस प्रकार ठोंक-वजा कर देखता है और ईंटों का अलग-अलग अस्तित्व समाप्त कर उन सब को लोगों के सामने एक भवन के रूप में किस प्रकार प्रदर्शित करता है, यह देखना और समझना मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है ! जीवन का महल भी इसी तरह खड़ा होगा। जितना अच्छा संगठन होगा, जितनी अच्छी एक रूपता होगी, उतना ही अच्छा एवं चिरस्थायी परिवार, समाज और राष्ट्र का जीवन होगा ! ताश के पत्तों के महल की तरह असंगठित जीवन जितना जल्दी वनता है, उतना ही जल्दी वह क्षण-भंगुर भी होता है।

३७

सर्वोदय तत्त्व-दर्शन

धर्म, दर्शन और विज्ञान—परस्पर सम्बद्ध हैं, अथवा एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं ? मानव जीवन के लिए तीनों कहाँ तक उपयोगी हैं ? मैं समझता हूँ कि ये प्रश्न आज नहीं तो कल अवश्य अपना समाधान मागेंगे – माँग चुके हैं। धर्म और दर्शन में तो आज ही नहीं, युग-युग से साहचर्य रहा है, आज भी है। धर्म का अर्थ है—आचार। दर्शन का अर्थ है—विचार। भारतीय धर्मों की प्रत्येक शाखा ने आचार और विचार में, धर्म एवं दर्शन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। गीता में सांख्य-बुद्धि और योग-कला का सुन्दर समन्वय किया गया है। बौद्धों में हीनयान और महायान—आचार तथा विचार के क्रमिक विकास के बीजभूत हैं। हीनयान धर्म (आचार) प्रधान रहा, तो महायान दर्शन (विचार) प्रधान बन गया। जैनों में धर्म और दर्शन के नाम पर आचार तथा विचार को लेकर

सांख्य-योग एवं हीनयान-महायान जैसे स्वतन्त्र विभेद तो नहीं पड़ सके। क्योंकि एकान्त आचार तथा एकान्त विचार जैसी वस्तु अनेकान्त में कथमपि सम्भवित ही न थी। आचार्यों ने आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त पर विशेष बल दिया अवश्य, फिर भी यहाँ धर्म और दर्शन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित नहीं कर सके। दोनों का गंगा-यमुना रूप ही अनेकान्त में फिट बैठ सकता था। अब रही, विज्ञान की बात। विज्ञान है क्या? यदि सत्य का अनुसन्धान ही वास्तव में विज्ञान है, तो वह भी दर्शन की एक विशेष पद्धति होने का नामान्तर होगा। यदि वहाँ भेद जैसी कोई चीज आवश्यक ही है, तो मात्र इतना भेद किया जा सकता है, कि विचार के दो पक्ष होंगे—एक अध्यात्म अनुसन्धान, दूसरा भौतिक अनुसन्धान। अन्दर की खोज और बाहर की खोज। पहला दर्शन कहा जाएगा, दूसरा विज्ञान। परन्तु आखिर, धर्म, दर्शन और विज्ञान—तीनों एक दूसरे के पूरक हैं, विघटक नहीं। इस अर्थ में वे तीनों एक-दूसरे के पूरक ही हैं, विघटक नहीं। इस अर्थ में वे तीनों एक-दूसरे से सम्बद्ध ही कहे जा सकते हैं।

संस्कृति का मूल स्वर: सर्वोदय:—धर्म और दर्शन किंवा आचार और विचार का समन्वय आज ही नहीं, युग-युगान्तर से अभीष्ट रहा है—भारतीय परम्परा में। कृष्ण ने जिस शाश्वत तत्त्व को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग कहा, महावीर ने उसी को अहिंसा तथा अनेकान्त कहा। गांधी ने उसी तत्त्व को एक शब्द से कह दिया—'सर्वोदय'। द्वैत में अद्वैत की खोज, निज में जिनत्व का अनुन्धान और पर में स्व की अनुभूति का नाम ही सर्वोदय है। प्राणि-मात्र में समानता का आधार ही सर्वोदय की जन्मभूमि है। सर्वोदय

आखिर है क्या ? सब का उदय, सब का उत्कर्ष, सब का विकास और सब का कल्याण ही तो सर्वोदय है। सर्वोदय आज का धर्म नहीं, भारतीय संस्कृति का तो यह मूल स्वर है। भारत के प्राचीन साहित्य में सर्वोदय के बीज बिखरे पड़े हैं—

"सब सुखी रहें। सब स्वस्थ रहें। सब के सब कल्याण भागी बनें। कोई कभी कहीं दुःखी न हो।"[१]

"सब जीव मुझ को क्षमा करें। मैं भी सब को क्षमा करता हूँ। सब के साथ मेरी मित्रता है। किसी पर भी मेरा वैर-भाव नहीं है।"

विश्वात्मा की भव्य भावना भारतीय साहित्य के पृष्ठों पर आज ही अंकित नहीं हुई है। गांधी जी इस भावना के स्रष्टा नहीं, उपदेष्टा थे। भारतीय वाङ्मय में ऐसे उल्लेख हैं, जिनमें गांधी जी से बहुत पूर्व ही 'सर्वोदय' शब्द अंकित हुआ है। 'सर्वोदय' शब्द का प्रयोग आचार्य समन्तभद्र की वाणी में हो चुका है।

सर्वोदय का ध्येय बिन्दुः—जैन-परम्परा के महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् के धर्म-शासन को 'सर्वोदय' कहा है। तीर्थंकर का धर्म-शासन एक ऐसा शासन है—

"जिसमें सब का उत्कर्ष है, सब का उदय है, सब का विकास है। उसका अन्त कभी नहीं होगा। वह समस्त अपराधों का अन्तकर है।"[२]

---

१. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित दुःख-भाग् भवेत्॥

२. सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

सर्वोदय मानता है कि सब का उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है, वह आदर्श अवश्य है, किन्तु व्यवहार के योग्य है। उसे जीवन में उतारा जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है। यह ठीक है, परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य। हाँ, प्रयत्न साध्य अवश्य है। सर्वोदय का आदर्श है, विश्वात्म-वाद और उसकी नीति है, समन्वय। मानव-निर्मित समस्त विषमताओं का वह निराकरण करना चाहता है तथा प्राकृतिक समस्याओं का भी वह बौद्धिक समाधान करना चाहता है। प्रकृति पर विजय वह भौतिक रूप में नहीं, आध्यात्मिक रूप में चाहता है। अतः वह विचार की उच्चता के साथ आचार की पवित्रता का भी प्रबल समर्थक है। सर्वोदयी सिद्धान्त में जीवन एक विज्ञान भी है, एक कला भी। जीव-मात्र के प्रति समादर की भावना, यह सर्वोदय का मुख्य ध्येय है।

प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति रूप अमृत जब मानवी जीवन में प्रवाहित होता है, तब सर्वोदय की भूमि में से कल्पवृक्ष अंकुरित, पल्लवित एवं फलित होते हैं। सर्वोदय राजनीति में नहीं, लोकनीति में विश्वास लेकर उठा है। क्योंकि राजनीति में शासन मुख्य है, लोकनीति में अनुशासन। सर्वोदय की पावन प्रेरणा है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर तथा दमन से आत्म-संयम की ओर बढ़े चलो। यह अधिकार पर नहीं, कर्त्तव्य पालन पर बल देता है। हृदय-परिवर्तन, जीवन-शोधन, साधन-शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार ही सर्वोदय है।

सुख-दुःख का बँटवारा:—सब के उदय का, सब के उत्कर्ष का अर्थ यही है कि कोई भी सुख किसी एक व्यक्ति या वर्ग के लिए

न होकर सबके लिए हो। सुख ही नहीं, मानव को दुःख भी बाँटना होगा। तभी समाज में समत्व-योग का प्रसार सम्भवित है, जब तक सच्चे अर्थ में सर्वोदय का समवतार नहीं माना जा सकता। यदि एक वर्ग दूसरे वर्ग का अथवा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, तो वह न्याय न होगा। एक की समृद्धि दूसरे के शोषण पर खड़ी नहीं होनी चाहिए। प्रकाश को अपने साम्राज्य का भव्य प्रासाद अन्धकार की नींव पर खड़ा करते किसने देखा है? क्या प्रकाश अन्धकार को अपना आधार बना सकता है? यदि नहीं, तो शोषण के आधार पर सुख कैसे खड़ा रहेगा? जब तक समाज में, राष्ट्र में और व्यक्ति में भी शोषण-वृत्ति का अस्तित्व किसी भी अंश में है, तो वहाँ सर्वोदय टिक न सकेगा। सर्वोदय में शोषक, शोषक न रहेगा और शोषित शोषित न रहेगा। सर्व प्रकार के शोषण के विरुद्ध सर्वोदय का एक ही नारा है—"हम शोषक का अन्त नहीं, शोषण वृत्ति का ही अन्त करना चाहते हैं। जब समाज में, राष्ट्र में और व्यक्ति में शोषण वृत्ति ही न रहेगी, तब शोषण का अस्तित्व ही न रहेगा।" सुख दुख में, दुःख सुःख में पच जाएगा। तभी व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का—सभी का उदय होगा।

सुख है, कहाँ? दुःख है, कहाँ? वस्तुनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ। यदि वस्तुनिष्ठ माने जाएँ तब तो भौतिक साधनों का अधिक से अधिक संग्रह सुख का, और उनका वियोग दुःख का कारण माना जाएगा। परन्तु बात ऐसी है नहीं। समाज में सम्पन्न भी दुःखी देखा गया है, और विपन्न भी कभी सुखी। फिर तो निश्चय ही सुख-दुःख वस्तुनिष्ठ नहीं रहे—आत्मनिष्ठ हो गए। मानव की मनोभूमि में से तो वे उत्पन्न होते हैं, और वहीं विलोप भी। अतः

सर्वोदय कहता है—सुख साधनों में आसक्ति मत होने दो, तब स्वतः दुःख भी सुख हो जाएगा।

सर्वोदय की विराट भावनाः—सर्वोदय "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त को लेकर चला है। समग्र विश्व की आत्माएँ एक समान हैं। उनमें ऊँच-नीच का भेद कृत्रिम है, स्वाभाविक नहीं। यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह दास है। यह अन्तर भी समाज-कृत है। यह नर है, यह नारी है, यह भेद भी वास्तविक नहीं है। शरीर तक ही यह सीमित है, आत्मा में पहुँचकर तो यह भेद भी नहीं ठहरता। भेद-अभेद और अनेक में एकत्व की साधना भी सर्वोदय की एक पद्धति है। जहाँ सब का उदय अभीष्ट है, वहाँ एक का उत्कर्ष अभीष्ट कैसे होगा? जो व्यक्ति अपना हित चाहता है, उसे चाहिए कि वह दूसरों का हित पहले करे। क्योंकि पर-हित में स्व-हित निहित रहता ही है। दूसरों को सुख न देकर स्वयं सुखी बनने के प्रयत्न में मनुष्य का गौरव अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। एक सच्चे सर्वोदयी की यह भावना होनी चाहिए :—

"सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो। प्राणी एक-दूसरे के हित में सदा निरत रहें। हमारे समग्र दोष नष्ट हों। यहाँ, वहाँ सर्वत्र जितने भी जीव हैं, वे सुखी रहें।"*

जब सर्वोदय की यह विराट भावना जन-जीवन में समवतरित होगी तब मानव मन में से जन्म पाने वाले ये जाति के बन्धन, ये राष्ट्र के बन्धन, ये स्वार्थ के बन्धन और ये मानवी मन के

---

* शिवमस्तु सर्वजगतः परहित-निरता भवन्तु भूत-गणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥

समस्त बन्धन स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाएँगे। मनुष्य "महतो महीयान्" बन जाएगा। तभी मनुष्य को विश्वात्मा के दर्शन हो सकेंगे। हम भी जीवित रहें, पर साथ में दूसरे भी जीवित रहें। इसी विराट भावना को जन-जन के मन मे उतारने का प्रयत्न सर्वोदय कर रहा है। सर्वोदय की सफलता इसी में है कि मानव, मानव पर विश्वास करना सीखे।

दिव्य विचार का प्रसारः—विचार और विकार दोनों की उत्पत्ति मानव मन है। विकार से पतन और विचार से उत्थान होता है। दूसरों के प्रति विद्वेष की भावना रखना, मानव मन का विकार है। सर्वोदय विकार को विचार में बदलने की एक कला है। जन-जीवन में दिव्य विचारों का प्रसार करना भी सर्वोदय का एक अपना उदात्त विचार ही है। समाज के उत्थान के लिए, व्यक्ति के उत्कर्ष के लिए केवल दिव्य विचारों का प्रसार करके ही सर्वोदय विरत नहीं हो जाता, बल्कि वह आगे बढ़कर कहता है कि विचार भी जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन न ला सकेंगे। भारतीय संस्कृति की एक मात्र यही विशेषता है कि आदर्श को केवल आदर्श मान कर ही बैठ नहीं जाती, बल्कि उसे जीवन में उतारने की पद्धति भी बताती है।

राम की मर्यादा, कृष्ण का प्रेम-योग, महावीर की अहिंसा एवं अनेकान्त, बुद्ध का वैराग्य और गांधी का सत्याग्रह—ये सभी आदर्श हैं। निश्चित रूप में आदर्श हैं। परन्तु वे जन-जीवन में भी उतरे हैं। उतर सकते हैं। राम की मर्यादा केवल राम के साथ ही नहीं मरी। आज भी वह भारतीय जनों के जीवन को प्रेरणा देती है। महावीर की अहिंसा और अनेकान्त केवल महावीर तक ही नहीं रहे, आज भी वे उतने ही उपयोगी हैं।

दिव्य विचार कभी किसी एक व्यक्ति में आबद्ध नहीं रह सके हैं। यह हो सकता है कि कभी कोई विचार किसी व्यक्ति-विशेष के आचरण से दिव्य बन गया हो, पर वह सम्पूर्ण समाज की संपत्ति है। विचार जब आचरण में आता है, तभी उसमें दिव्यता प्रस्फुटित होती है।

अहिंसा और अनेकान्त :—श्रमण-संस्कृति जिस अहिंसा और अनेकान्त की उदात्त भावना का युग-युग से प्रचार एवं प्रसार करती आ रही है, सर्वोदय में भी वही तत्त्व सन्निहित है। विचार में अनेकान्त, व्यवहार में अहिंसा और समाज में अपरिग्रह—इन सबके सुन्दर योग का नाम ही तो सर्वोदय विचार-धारा है।

अहिंसा नागरिक जीवन का और लोक-नीति का एक आधार-भूत सिद्धान्त है। अहिंसा प्रेम के विस्तार में प्रकट होती है। दूसरे का सुख हमारा सुख है, दूसरे का दुःख हमारा दुःख है। इस सह-जीवन की विराट भावना में से ही अहिंसा प्रस्फुटित होती है। जो तेरे लिए काँटा बोता है, उसके लिए तू फूल ही लगा। तुझे फूल ही मिलेंगे, उसे काँटे। परन्तु उसके लिए तू अपने मन में काँटे की भावना मत रख। तेरे फूलों की फसल अगर उसके काँटों से बड़ी होगी, तो निश्चय ही इसमें तेरी सफलता है। फिर तो तेरे आस-पास जो काँटे बिखर गए हैं, उनमें से भी गुलाब ही महकेंगे। यही तो अहिंसा तत्त्व का दर्शन है। दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाना अहिंसा है और दूसरे के जीवन में बाधा पहुँचाना हिंसा है। अहिंसा अमृत और हिंसा विष है। जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिए अहिंसा को जीवन में उतरने दो। साध्य शुद्ध हो, यह तो ठीक ही है, परन्तु साधन शुद्धि पर भी पूरा ध्यान देना चाहिए। साधन शुद्ध होगा, तो साध्य अपने आप शुद्ध होगा ही।

अनेकान्त का अर्थ है—विचार सहिष्णुता। पर-मत के प्रति जब तक सहिष्णुता का भाव जागृत नहीं होगा, तब तक सच्चे अर्थ में जीवन का उच्च ध्येय प्राप्त न हो सकेगा। सामाजिक जीवन में विरोध हो जाना सहज है, परन्तु वह विरोध विद्वेष न बन जाए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। विरोध में समन्वय खोजना ही तो अनेकान्त है। समन्वयात्मक जीवन की स्थापना के लिए जीवन-विरोधों का परिहार हमें करना पड़ता है। व्यक्तिगत विरोध तथा समाजगत विरोध—इन सारे विरोधों का परिहार करने की जो पद्धति है, उसी को अनेकान्त अथवा समन्वय कहा जाता है। सर्वोदय सभी सुविचारों का सुन्दर समन्वय करता रहा है। सत्य क्या है? वह कहाँ है? आदि प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित समाधान समन्वय पद्धति है। यह समन्वय पद्धति क्या है? जहाँ भी, जिस किसी के पास भी सत्य हो, ग्रहण कर लो। सत्य यदि अपना है, तो भी ठीक और यदि वह पर का है, तो भी ठीक। आठवीं शताब्दी के महान् विद्वान् समन्वय तत्त्वदर्शी आचार्य हरिभद्र ने कहा था—

"सत्य कहीं पर भी हो, उसे आदर से ग्रहण कर लो। यदि वह कपिल के पास हो, तब भी सुन्दर है, और यदि वह बुद्ध के पास है, तब भी ठीक है।"* जिसका वचन युक्ति-युक्त हो, युक्ति-संगत हो, उसे ग्रहण करना ही चाहिए।

सर्वोदय भी हमें इसी भावना पर पहुँचा देता है। सर्वोदय में धर्म, दर्शन विज्ञान, नीति, संस्कृति और आचार—सबका समन्वय मिल जाता है। अहिंसा और अनेकान्त तथा अपरिग्रह तो उसके मूलभूत सिद्धान्त ही हैं। सर्वोदय में विचारों का आग्रह

---

* युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।

नहीं, वहाँ तो सभी विचारों का समादर है। गांधी का सर्वोदय, गाँधी का अपना नहीं, उसमें समग्र भारतीय तत्त्व दर्शन, भारतीय विचार चिन्तन और भारतीय संस्कृति का सार संगृहीत है। समाज और राष्ट्र में सुख, शान्ति और सन्तोष का फैलाव करना ही एकमात्र इस विचार पद्धति का मूल ध्येय है, जो अभिनव होकर भी अपने आप में पुरातन है, चिरन्तन है। भारतीय तत्त्व-दर्शन का यह एक सुवर्ण पृष्ठ है, जो अपने आप में सुन्दर, सरस और सुमधुर है।

३८

ध्यान-योग

किसी भी विषय पर अथवा किसी भी एक वस्तु पर निरन्तर बहने वाली मन की विचारधारा को केन्द्रित करना 'ध्यान' कहा जाता है। 'ध्यान' का शाब्दिक अर्थ है—'चिन्तन करना, मनन करना और विचार करना।' ध्यान की साधना से चित्त परिशुद्ध, निर्मल और पवित्र बनता है। *विशुद्ध चित्त संसार से विमुख और मोक्ष के सम्मुख हो जाता है।* ध्यान की साधना से मन के समस्त विकारों का उपशम अथवा क्षय हो जाता है। इसी आधार पर ध्यान को 'योग' कहा गया है। ध्यान-योग का अर्थ है—'ध्यान की साधना से अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेना।'

पातञ्जल योग-दर्शन के अनुसार ध्यान की परिभाषा है—"देश-विशेष में ध्येय-वस्तु के ज्ञान की एकतानता।" जिस देश-विशेष में चित्त को स्थापन किया है, उसमें ध्येय वस्तु का

ज्ञान, अन्य किसी वस्तु के ज्ञान से अभिभूत न होकर, जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है, तब उसे 'ध्यान' कहते हैं। ध्यान में कर्मों का क्षय बड़ी शीघ्रता से होता है। पाप-राशि को भस्म करने के लिए ध्यान एक जाज्वल्यमान अग्नि के समान है। ध्यान की साधना से आध्यात्मिक विकास में अपूर्व प्रगति होती है। यही कारण है कि प्राचीन-काल से ही भारत के ऋषि-मुनियों ने अन्य योगों की अपेक्षा ध्यान-योग पर विशेष बल दिया है। ध्यान-योग की साधना से मन शान्त एवं प्रसन्न रहता है।

जैन-शास्त्र में, जैन-आगम में और जैन योग-विद्या में ध्यान-योग का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। परन्तु मुख्य रूप में ध्यान के चार भेद हैं—

१. आर्त-ध्यान,
२. रौद्र-ध्यान,
३. धर्म-ध्यान,
४. शुक्ल-ध्यान।

प्रथम के दो ध्यान, अर्थात् आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान संसार की अभिवृद्धि के कारण होने से 'दुर्ध्यान' कहे जाते हैं। इन दोनों ध्यानों को 'अशुभ-ध्यान' भी कहते हैं। योग की साधना करने वालों के लिए ये दोनों ध्यान सर्वथा त्याज्य हैं, क्योंकि इनसे चित्त में विक्षेप पैदा होता है। अन्त के दोनों ध्यान, अर्थात् धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान 'सुध्यान' कहे जाते हैं। इनको 'शुभ-ध्यान' भी कहते हैं। ये दोनों मोक्ष के कारण हैं। योग की साधना करने वालों के लिए इन दोनों ध्यानों की परम आवश्यकता है। आर्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान मोक्ष की साधना के अङ्ग-भूत नहीं हैं,

तथापि साधक के लिए इन दोनों की अशुभता से बचने के लिए इन दोनों का स्वरूप जानना परम आवश्यक है। मैं यहाँ पर संक्षेप में चारों ध्यानों का स्वरूप दे रहा हूँ और उनके भेद भी संक्षेप में दे रहा है—

आर्त-ध्यान—'अर्ति' नाम दुःख या पीड़ा का है, उसमें से जो उत्पन्न हो, वह 'आर्त कहलाता है। तात्पर्य यह कि जिसमें दुःख का चिन्तन हो, उसे 'आर्त-ध्यान' कहते हैं। प्राणी में दुःख की उत्पत्ति के जितने भी कारण हैं, उनको संक्षेप से चार विभागों में विभक्त किया गया है। यथा—

१. अनिष्ट-संयोग—जब कभी अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, अर्थात्—अग्नि, सर्प, सिंहादि का मेल या प्रबल शत्रु का समागम अथवा प्राणनाशक अन्य कोई प्रसंग प्राप्त हो, तो उससे उत्पन्न होने वाले दुःख की स्मृति से व्याकुल हुआ पुरुष, उसके वियोग के लिए, अर्थात् वे भय देने वाले पदार्थ शीघ्र से शीघ्र कब और कैसे दूर हों—इसके लिए, जो सतत चिन्तन करता है, उसकी इस चिन्तन परम्परा को ही 'अनिष्ट-संयोग आर्तध्यान' कहते हैं।

२. इष्ट-वियोग—इसी प्रकार धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मित्र और अधिकार आदि इष्ट-पदार्थों के वियोग से जो दुर्ध्यान होता है तथा उसको फिर से प्राप्त करने के लिए जो सतत चिन्तन होता है, उसका नाम 'इष्ट वियोग—आर्तध्यान' है।

३. प्रतिकूल-वेदना—अनेक प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक व्याधियों से संत्रास को प्राप्त हुआ जीव उनके दूर करने के लिए जो रात-दिन चिन्तन करता है, वही 'प्रतिकूल-वेदना' या 'रोग-चिन्ता' का तीसरा नाम आर्तध्यान है।

४. निदान—विषय-भोगों की बढ़ी हुई लालसा के कारण प्राप्त न होने वाली वस्तुओं को येन-केन-उपायेन प्राप्त करने की जो दौड़-धूप है, अर्थात् उसको उपलब्ध करने की जो तीव्र अभिलाषा है, उसे 'निदान-आर्तध्यान' कहते हैं।

रौद्र-ध्यान—दूसरा रौद्र-ध्यान है। क्रूर अथवा कठोर भाव वाले प्राणी को 'रुद्र' कहते हैं और उसका ध्यान 'रौद्र-ध्यान' कहलाता है। क्रूरता और कठोरता की उत्पत्ति का मूल कारण हिंसा (हत्या), असत्य (झूठ), स्तेय (चोरी), और विषय-रक्षण (आसक्ति) की प्रवृत्ति है। इसी जघन्य प्रवृत्ति से क्रूरता अथवा कठोरता का उद्गम होता है, इसीलिए आर्त-ध्यान की भाँति रौद्रध्यान भी चार प्रकार का है। यथा—

१. हिंसानुबन्धी—जिस चिन्तन के पीछे हिंसा की भावना जागृत रहती है, वह 'हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान' कहलाता है। रौद्र-ध्यान के इस प्रथम भेद में व्यवहृत प्राणी का आशय अत्यन्त क्रूर होता है। किसी जीव को पीड़ा होते, दुःख होते अथवा प्राणनाश होते देखकर वह आनन्द मनाता है। उसमें क्रोध का विष अधिक होता है। उसका स्वभाव करुणा-रहित और बुद्धि पापमयी होती है। इसी प्रकार सावद्य कार्यों में कुशलता, पापोपदेश में अभिरुचि, दूसरे के प्राण लेने में आनन्द और क्रूरता, निर्दयी जीवों की संगति आदि विचारों का समावेश इसी विभाग में समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिंसा के साधनों को एकत्र करना, हिंसक प्राणियों का पोषण करना और हृदय से अनुकम्पा का बहिष्कार करना तथा दयालु एवं सद्गुणी पुरुषों से द्वेष रखना—ये सभी दूषण इस प्रथम भेद के अन्तर्गत आते हैं। इस भेद का उद्गम-स्थान 'क्रोध' है, जो कि तीव्र कषाय कहा जाता है।

क्रोध के प्रभाव से शरीर की नस-नस में रुधिर-संचार तीव्र गति से होने लगता है और इसकी उत्पत्ति भी अति अशुभ लेश्या से है। अतः इन समस्त बातों का विचार करके योग-मार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक को सर्वथा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

२. **मृषानुबन्धी**—जिस चिन्तन की आधार-शिला केवल मृषावाद हो, वह 'मृषानुबन्धी रौद्रध्यान' है। इस दूसरे भेद में—असत्य-भाषण, पर-वंचना, पर-प्रतारणा, सत्य पर अनास्था और विश्वासघात आदि दोषों का समावेश होता है।

३. **स्तेयानुबन्धी**—जिस चिन्तन में केवल स्तेय-भाव ही प्रतिबिम्बित हो, उसे 'स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान' कहते हैं। दूसरे की वस्तु को उठा ले जाने की चतुरता, साथ में रहने वालों को चोरी के लिए उकसाना और दूसरे का धन चुरा लेने का निरन्तर विचार, आदि सभी अपकर्म इस भेद के अन्तर्गत आते हैं।

४. **विषय-संरक्षणानुबन्धी**—जिस चिन्तन में प्राप्त-विषयों के संरक्षण की भावना गर्भित हो, वह 'विषय-संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान' कहलाता है। संचित धन की रक्षा किस प्रकार की जाए, उसको चोर-डाकुओं से सुरक्षित रखने का अच्छा उपाय क्या होना चाहिए और ऐसी कौन-सी योजना है कि जिससे मूल-पूंजी तो बराबर बनी रहे, लाभ अधिक हो, तथा बड़े-बड़े महल बनाने और उनमें धन रखने के लिए गुप्त स्थानों का निर्माण करने एवं चोर-डाकुओं के भय से पहरेदार रखने आदि की विचारणा में रात-दिन संलग्न रहना आदि अनेक प्रकार के प्रपंच रौद्रध्यान के इस चतुर्थ भेद में ही समाविष्ट होते हैं।

धर्म-ध्यान—जिस चिन्तन में केवल धर्म को ही प्रधान स्थान प्राप्त हो, उसे 'धर्म-ध्यान' कहते हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और

संस्थान आदि के सतत चिन्तन में मनोवृत्ति को एकाग्र करना ही 'धर्म-ध्यान' है। धर्म-तत्त्व के स्वरूप की विचारणा अधिकतया आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान-लोकस्वरूप—इन चारों पर निर्भर होने से धर्म-ध्यान के चार भेदों का परिचय इस प्रकार है—

१. **आज्ञा-विचय**—'आज्ञा' का अर्थ है—परम आप्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग प्रभु का आदेश। और 'विचय' का अर्थ है—विचार। अतः वीतराग प्रभु की आज्ञानुसार वस्तु-तत्त्व का चिन्तन करना अथवा उक्त रीति से वस्तु-तत्त्व चिन्तन में मनोयोग देना—'आज्ञा-विचय-धर्मध्यान है'।

२. **अपाय विचय**—'अपाय' का नाम है—दुःख। जिसके कारण जीव के राग-द्वेष और विषय-कषाय हैं। इन सब के चिन्तन की भूमि 'अपाय-विचय-धर्मध्यान' है। कर्म-सम्बन्ध के विच्छेद का और आत्म-समाधि की प्राप्ति का उपाय, चिन्तन करना—इस ध्यान का मुख्य प्रयोजन है।

३. **विपाक-विचय**—इस भेद में कर्म-विपाक-फल का चिन्तन किया जाता है। ज्ञानावरणादि अष्ट-विध कर्मों के विपाकोदय को, अर्थात् कर्मजन्य फल को यह जीव किस प्रकार से भोगता है—आदि बातों के विचार की भूमि का नाम—'विपाक-विचय-धर्मध्यान' है, और गुण-स्थानों के आरोह-क्रम से इन कर्मों के सम्बन्ध का विच्छेद किस प्रकार से किया जाता है, इस विषय का चिन्तन भी इस तीसरे विभाग में आ जाता है।

४. **संस्थान-विचय**—धर्म-ध्यान के चौथे भेद का नाम 'संस्थान-विचय' है। 'संस्थान' का अर्थ है—लोक। इस भेद के अन्तर्गत लोक के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।

शुक्ल-ध्यान—शुक्ल-ध्यान में चित्तवृत्ति की पूर्ण एकता और निरोध सम्पन्न होता है। केवल आत्म-सन्मुख निष्कषाय (उपशान्त) और क्षयभाव-युक्त चित्त 'शुक्ल' कहलाता है। ध्यान-शतक की टीका में आचार्य हरिभद्र सूरि शुक्ल-ध्यान का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ—शोक-निवर्तक एकाग्र चित्त-निरोध करते हैं, अर्थात् जिससे आत्मगत शोक की सर्वथा निवृत्ति हो जाए—ऐसा एकाग्र-चित्त निरोध—'शुक्ल-ध्यान' कहलाता है। अन्य ध्यानों की भांति इसके भी निम्नलिखित चार भेद हैं—

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—जब कोई साधक श्रुतज्ञान के आधार पर जीवाजीवादि पदार्थों का द्रव्य-पर्याय आदि विविध दृष्टियों से भेद-प्रधान चिन्तन करता है और उसके इस चिन्तन में एक अर्थ-पदार्थ से दूसरे अर्थ-पदार्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर एवं एक योग से दूसरे योग पर संचार होता रहता है, तब इस श्रुत-ज्ञानावलम्वी भेद-प्रधान सविचार-चिन्तन को 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्ल-ध्यान' कहते हैं।

२. एकत्व-वितर्क-अविचार—परन्तु दूसरे शुल्क-ध्यान में इससे विपरीत है। इसका अनुसरण करने वाला साधक श्रुतज्ञान के आधार पर पदार्थों के विविध स्वरूपों का केवल अभेद-प्रधान दृष्टि से ही चिन्तन करता है। उसके इस चिन्तन में एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक योग से दूसरे योग पर संचार नहीं होता। किन्तु ध्याता किसी एक ही पर्याय-रूप अर्थ को लेकर मन, वचन और काय के किसी एक ही योग पर स्थिर रहकर एकत्व-अभेद-प्रधान चिन्तन करता है। यह चिन्तन 'एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्ल-ध्यान' कहलाता है।

३. **सूक्ष्म-क्रिया अप्रतिपाती** – तीसरा शुक्ल-ध्यान तेरहवें गुणस्थान—'सयोग-केवली' में प्राप्त होता है। जब केवली भगवान् आयु के अन्त समय में योग-निरोध के क्रम का आरम्भ करते हुए सूक्ष्म-काय-योग को अवलम्बित करके बाकी के योगों का निरोध करते हैं, तब उनमें श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही बाकी रह जाती है, जिसमें से पतन की संभावना को कोई अवकाश नहीं होता। इन लक्षणों के आधार पर शुक्ल-ध्यान को 'सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती' कहते हैं।

४. **समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति** – यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान—'अयोग-केवली' में प्राप्त होता है, जो कि अन्तिम गुणस्थान है। जिस समय श्वास-प्रश्वास प्रभृति सूक्ष्म क्रियाओं का भी निरोध हो जाता है और आत्म-प्रदेशों में सर्व प्रकार का कम्पन-व्यापार बन्द हो जाता है, तब वह 'समुच्छिन्न क्रिया-निवृत्ति' ध्यान कहलाता है। इस अवस्था में साधक की आत्मा सर्व प्रकार के स्थूल एवं सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक और शारीरिक व्यापारों से सर्वथा पृथक् हो जाती है। इसमें उसके नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय—ये चार अघाती-कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और वह सर्वथा निर्मल, शान्त, निष्कलंक, निरामय, निष्क्रिय और निर्विकल्प-स्वरूप पूर्ण सुख-स्वरूप मोक्ष-पद को प्राप्त हो जाता है।

३१

भावना-योग

मनुष्य के जीवन का उत्थान और पतन उसकी भावना के अनुरूप होता है। मनुष्य के चित्त में कभी शुभ भावना और कभी अशुभ भावना का चक्र सदा ही चलता रहता है। भावना में अपार बल और असीमित शक्ति होती है। संसार का वह कौन-सा काम है, जो भावना के बल से पूरा न किया जा सकता हो ? शास्त्र में भावना को 'भव-नाशिनी' कहा गया है। अशुभ भावना के कारण ही प्रसन्नचन्द्र मुनि ने नरक जाने योग्य कर्मों का संचय कर लिया था। शुद्ध भावना के कारण मरुदेवी माता ने केवल-ज्ञान पा लिया था। 'भोग-भावना' और 'त्याग-भावना' के बल से पुण्डरीक और कुण्डरीक दोनों सहोदर भ्राता होने पर भी एक अपने जीवन का उत्थान कर लेता है, और दूसरा अपने जीवन का पतन कर लेता है। अशुभ-योग को छोड़कर शुभ-योग में प्रवेश करने को ही वस्तुतः 'भावना-योग' कहते हैं। भावना के चार प्रकार हैं—"मैत्री, मुदिता, करुणा और मध्यस्था।"

मैत्री-भावना :

संसार में जितने भी जीव हैं, उन सभी को अपना मित्र समझना—'मैत्री-भावना' है। जैसे हम अपने मित्र के साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं, उसका आदर और सत्कार करते हैं, वैसे ही संसार के प्रत्येक जीव के साथ प्रेम का व्यवहार करना और सब का आदर एवं सत्कार करना—यही 'मैत्री-भावना' है। मैत्री-भावना का स्वरूप-वर्णन करते हुए एक आचार्य ने लिखा है।

यथा—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः,
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चित् दुःख-भाग् भवेत् ॥"

"संसार के समस्त जीव सुखी रहें। सब स्वस्थ एवं नीरोग रहकर जीवन का आनन्द लें। सब का कल्याण हो, सब का मंगल हो। किसी भी जीव को कभी दुःख एवं क्लेश न रहे।" इस प्रकार की शुभ विचार-धारा को 'मैत्री-भावना' कहा जाता है। मैत्री-भावना अत्यन्त पवित्र भावना है।

यथा—

"मैत्र्या भूमिरतीव रम्या,
भव्य-जनै रेव गम्या।
निन्दन्त्यप कुर्वन्ति ये वा,
घ्नन्ति ह्न पाद् यष्टिभि रेव।
मत्वा तेषां कर्म-प्रदोषम्,
तैरपि मैत्री न छेद्या ॥"

"अपने प्रेमी से तो सभी प्रेम करते हैं। परन्तु अपने विरोधी से भी प्रेम करना—मैत्री है। मैत्री-भावना की भूमि अत्यन्त सुन्दर होती है। भव्य जन ही उस पर पहुँच सकता है। दूसरों से द्वेष रखने वाला उस पवित्र भूमि पर नहीं जा सकता। परम विशुद्ध मैत्री-भावना वह है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य के मन में न किसी के प्रति द्वेष रहता है, और न किसी के प्रति राग रहता है। भले ही निन्दा हो, अपमान हो, भले ही कोई मारे-पीटे, परन्तु चित्त में उसके प्रति जरा भी द्वेष न आने पाए। इस प्रकार के प्रसंग आने पर विचार करे कि इस विचारे का दोष भी क्या है? यह तो सब उसके कर्मों का ही दोष है। द्वेष और विरोध करने वाले के प्रति भी कभी द्वेष एवं विरोध की भावना न आना ही सच्ची मैत्री-भावना है।

मुदिता भावना :

गुणी-जनों के प्रति आदर-बुद्धि का परिचय देने को 'मुदिता' अथवा 'प्रमोद-भावना' कहते हैं। संसार में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जिसमें कोई गुण न हो। गुण एवं दोष किस में नहीं है? परन्तु साधक की दृष्टि दोष पर न जाकर गुण पर जानी चाहिए। ज्ञानी से ज्ञान लो, योगी से योग लो, तपस्वी से तप लो, ब्रह्मचारी से ब्रह्मचर्य लो और सन्तोषी से सन्तोष लो। जहाँ पर और जिसमें जो गुण मिले, उसे ग्रहण कर लेना ही 'मुदिता' अथवा 'प्रमोद-भावना' है।

यथा—

"सद्‌गुण-पाने सक्तं मे मनः।
सेवा-धर्म-रता गत-स्वार्थाः
अभ्युदयं कुर्वाणाः।

धन्यास्तेऽपि समाज-सेवकाः,
न्याय्य-पथे विहरन्तः ॥"

"मेरा मन सद्‌गुणों को ग्रहण करने के लिए सदा तैयार रहे। जो सेवा में संलग्न हैं, जो स्वार्थ-भावना को छोड़ चुके हैं, और जो दूसरों का कल्याण करते हैं, वे समाज-सेवक धन्य हैं। न्याय-मार्ग पर चलने वाले लोगों का मैं आदर करता हूँ।"

यथा—

"सत्यवादिनो ब्रह्मचारिणः,
प्रकृत्या भद्राः सरलाः।
धन्यास्ते गृहिणोऽपि गुणाढ्याः
परोपकारे तरलाः ॥"

"जो सत्य के प्रेमी हैं, जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करते हैं, जो स्वभाव से सरल एवं निष्पाप हैं, जो पर-उपकार करने में सदा तत्पर हैं, वे भले ही घर में रहने वाले गृहस्थ ही क्यों न हों ? वे भी मेरे आदर के पात्र हैं, उनके गुणों का मैं सत्कार करता हूँ।"

करुणा-भावना :

संसार में सभी सुखी नहीं है। संसार में सुखी जीवों की अपेक्षा दुःखी जीव ही अधिक हैं। अनाथ और असहाय-जनों के प्रति जो मृदु-भावना होती है, उसे 'करुणा-भावना' कहा गया है। कोई रोग से पीड़ित है, कोई अन्धा है, कोई बधिर है, कोई पंगु है और कोई अंगहीन है। इन सब के प्रति मन में जो अनुकम्पा भाव आता है, उसी को 'करुणा-भावना' कहा जाता है। अनुकम्पा, करुणा और दया—यह आत्मा का सब

से बड़ा गुण है। दया-हीन जीवन भी क्या जीवन है? यथाशक्ति दुःखी जनों की सेवा करना, महान् धर्म है।

यथा—

"जन्मान्धा बधिरा मूका वा,
सीदन्त्यशन— विहीनाः।
अन्ध-बधिर-शाला संस्थाप्य;
रक्ष्या एते दीनाः॥"

"अन्धे देख नहीं सकते, बधिर सुन नहीं सकते और मूक बोल नहीं सकते—ऐसी स्थिति में आपका यह कर्त्तव्य है कि ऐसे असहाय मनुष्यों की सहायता करो! उन्हें सुखी बनाने का प्रयत्न करो! बहुतों के पास पहनने को वस्त्र नहीं है, खाने को भोजन नहीं है और रहने को मकान नहीं है—इस दशा में आपका यह कर्त्तव्य है कि उनको अशन, वसन और भवन की सुविधा प्रदान करो! जो पढ़ने की योग्यता रखते हैं, पर बिना धन के कैसे पढ़ें? उनकी सहायता करना, आपका धर्म है! दीन, हीन और अपंग की सेवा करना परम-धर्म है। आपका पड़ौसी भूखा मरे और आप मौज करते फिरें! यह आपका धर्म नहीं। दुःखी को सुखी बनाने का प्रयत्न करना ही वस्तुतः करुणा है।"

मध्यस्थ-भावना :

संसार में सभी धर्मशील नहीं हो सकते। संसार में पापात्माओं की भी कमी नहीं है। क्रूर, दया-हीन और धर्म-विहीन मनुष्यों को कितना ही उपदेश दिया जाए, परन्तु वे अपने क्रूर कर्मों का परित्याग नहीं कर पाते। इस प्रकार के जीवों के प्रति भी मेरे मन में कभी द्वेष एवं विरोध

पैदा न हो—यह 'मध्यस्थ-भावना' है। अनुकूलता और प्रतिकूलता में, तथा सुख और दुःख में सम-भाव रखना भी 'मध्यस्थ-भावना' है। क्रोधी के क्रोध पर क्रोध न आना, द्वेषी के द्वेष पर द्वेष न आना और क्रूर-कर्मी के क्रूर-कर्म पर क्रूर-भावना का न आना भी 'मध्यस्थ-भावना' है। मध्यस्थ-भावना का अधिकारी वही हो सकता है, जो विरोध में भी विनोद का आनन्द ले सके।

यथा—

"पुद्गल-मात्रं परिणति-शीलं,
द्वेष्यं भवति रोच्यम्।
नातो द्वेषः कार्य्यः कदापि,
नापि मनसा शोच्यम् ॥"

"पुद्गल मात्र परिणमन-शील है। वह कभी शुभ हो जाता है और कभी अशुभ हो जाता है। अतः उस पर न कभी द्वेष करना चाहिए, और न कभी राग ही करना चाहिए। इसी को 'मध्यस्थ-भावना' कहते हैं।"

यथा—

"पुरुषा अपि परिवर्तन-शीलाः,
नैक-स्वभावा सन्ति।
धर्मिणोऽपि भवन्त्यधर्मिणः,
ते धर्मिणो भवन्ति ॥"

"पुद्गल की तरह जीव भी, आत्मा भी परिवर्तनशील है। उनके परिणाम बदलते रहते हैं। जो धर्मी हैं, वे अधर्मी बन जाते हैं, और अधर्मी फिर धर्मी बन जाते हैं। राजा प्रदेशी कितना क्रूर था, किन्तु अन्त में कितना मृदु हो गया था। जमालि कितना श्रद्धाशील एवं दृढ़-धर्मी था, परन्तु अन्त में कितना

मिथ्यावादी बन गया था। जड़ और चेतन की परिणति को देखकर, किसी पर भी राग और द्वेष नहीं रखना चाहिए।" इसी को 'मध्यस्थ-दृष्टि' कहते हैं।

मैत्री-भावना से द्वेष को जीता जा सकता है। मुदिता-भावना से गुणों में आदर होता है। करुणा-भावना से विचार भद्र बन जाते हैं। मध्यस्थ-भावना से विरोध में भी शान्त रहने का अभ्यास किया जा सकता है।

यह 'भावना-योग' जीवन-विकास का एक मुख्य साधन है। मनुष्य अपने विचारों पर संयम रखकर अपना हित साध सकता है। भावना-योग की साधना तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक साधक को सिद्धि न मिल जाए। भावना-योग की साधना प्रतिदिन होनी चाहिए। भावना-योग से चित्त शान्त, प्रसन्न एवं विशुद्ध हो जाता है।

४०

जैन-दर्शन में योग-विचार

भारत के समस्त धर्मों में तथा भारत के समस्त दर्शनों में किसी न किसी रूप में योग-साधना का उल्लेख मिल ही जाता है। 'योग' शब्द आज से ही नहीं, बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है। योग एक सम्प्रदाय भी था, पर आज तो उसका नाम ही शेष रह गया है। सांख्य-सम्प्रदाय की तरह योग-सम्प्रदाय भी आज पोथी के पन्नों पर रह गया है। भले ही आज योग-सम्प्रदाय न रहा हो, परन्तु योग के सिद्धान्त तो आज भी प्रचलित हैं।

यहाँ पर हम केवल जैन-दृष्टि से योग का रहस्य और उसका वास्तविक अर्थ तथा उसकी परम्परा संक्षेप में बतलाने का प्रयत्न करेंगे। विभिन्न युग के जैन आचार्यों ने अपने-अपने समय में योग की क्या व्याख्या की है और योग का क्या स्वरूप बतलाया है, यह जानना परम आवश्यक है। आचार्य हरिभद्र

सूरि ने योग पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। जैसे—'योग-बिन्दु, योग-दृष्टि समुच्चय और योग-शतक।' इसके बाद आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने 'योग-शास्त्र' लिखा। उपाध्याय यशोविजय ने भी 'अध्यात्मोपनिषद्' आदि ग्रन्थ योग विषय पर लिखे हैं। दिगम्बर परम्परा में 'योग-प्रदीप' ग्रन्थ की रचना, जिसका नाम 'ज्ञानार्णव' भी है—आचार्य शुभचन्द्र ने की है।

'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत में 'युज्' धातु दो हैं। एक का अर्थ है—जोड़ना। दूसरे का अर्थ है—समाधि। इनमें से जोड़ने के अर्थ वाले 'युज्' धातु को जैन आचार्यों ने प्रस्तुत योग अर्थ में स्वीकार किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योग-विंशिका' ग्रन्थ में 'योग' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—'**मोक्खेण जोयणाओ जोगो**'—अर्थात् जिन साधनों से आत्मा की विशुद्धि और उसका मोक्ष के साथ योग होता है, उन सब साधनों को 'योग' कहा है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपने 'द्वात्रिंशिका' ग्रन्थ में योग की वही व्याख्या की है, जो आचार्य हरिभद्र ने की थी। उपाध्याय जी योग कि परिभाषा इन शब्दों में करते हैं—'**मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।**' यशोविजय जी ने कहीं-कहीं पर अपने ग्रन्थों में 'पञ्च-समिति' और 'त्रिगुप्ति' को उत्तम योग कहा है। इनके मत में योग का अर्थ है—'धर्म-व्यापार।' मन, वचन और काय को संयत रखने वाला धर्म-व्यापार ही 'योग' है। क्योंकि यही आत्मा को उसके साध्य—मोक्ष के साथ जोड़ता है।

जैन-दर्शन में 'त्रिविध योग' कहा गया है। श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया—इसको 'त्रिविध योग' कहते हैं। क्योंकि शुद्ध श्रद्धा, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया की साधना से ही आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति

होती है। इस त्रिविध योग को ही 'रत्न-त्रयी' और 'मोक्ष-मार्ग' भी कहा गया है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में 'पञ्चविध योग' भी कहा है—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। इस पञ्चविध योग का विस्तार-पूर्वक वर्णन आचार्य हरिभद्र ने अपने 'योग-बिन्दु' ग्रन्थ में किया है। इसी आचार्य ने अपने 'योग दृष्टि समुच्चय' ग्रन्थ में 'अष्ट-विध' योग भी कहा है—जिसको 'अष्ट-योग दृष्टि' भी कहते हैं—'मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा।' पातञ्जल 'योग-सूत्र' में महर्षि पतञ्जलि ने योग के आठ अंगों का वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र ने उन आठ अंगों को 'अष्ट-दृष्टि' कहा है। जैन-योग की यह नयी व्याख्या और नया मोड़ था, जिसका विशद वर्णन आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में आज भी उपलब्ध है। उपाध्याय यशोविजय जी ने अपने एक ग्रन्थ में एक भिन्न प्रकार के त्रिविध योग का उल्लेख किया है—इच्छा, शास्त्र और सामर्थ्य। परन्तु वस्तुतः यह कल्पना भी आचार्य हरिभद्र की है, उसी का उल्लेख उपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थ में कर दिया है। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में भी योग का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त 'समाधि-शतक, ध्यान-शतक, ध्यान-विचार, ध्यान-दीपिका और अध्यात्म-कल्पद्रुम' आदि ग्रन्थों में योग का विशेष वर्णन है। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि जैन आचार्य योग की व्याख्या करते हुए 'हठ-योग' का निषेध करते हैं। किसी भी जैन आचार्य ने 'हठ-योग' का समर्थन नहीं किया। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने तो अपने योग-शास्त्र में हठ-योग का जोरदार शब्दों में निषेध किया है—

"तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ।
प्राणास्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्त-विप्लवः ॥"

"प्राणायाम हठ-योग है और हठ-योग को जैन आचार्यों ने साधना में अनावश्यक माना है। योग-साधना का उद्देश्य है—चित्त-शान्ति और चित्त-प्रसन्नता। हठ-योग की साधना से चित्त को न शान्ति मिलती है, न प्रसन्नता। इसी आधार पर जैन आचार्यों ने अपने योग-ग्रन्थों में 'हठ-योग' का निषेध करके 'सहज-योग' का ही विधान किया है।

योग-साधना का उद्देश्य—आत्म-विशुद्धि है। आत्म-विशुद्धि के लिए ही योग-साधना करनी चाहिए। विभूति, लब्धि और चमत्कार के लिए योग-साधना कदापि नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इससे लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। योग्य गुरु के विना योग की साधना संभव नहीं है।

४१

एकतानता : सफलता की कुञ्जी

प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए एक-निष्ठा, लक्ष्य-लग्नता और एकाग्रता की बड़ी आवश्यकता होती है। यदि [म]नुष्य के जीवन में स्थिरता और एकतानता नहीं है, तो वह कोई [भ]ी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। मन की दृढ इच्छा-शक्ति [क]ो किसी एक काम में केन्द्रित कर देने को 'एकाग्रता एवं [ए]कतानता' कहते हैं। संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है, जिसे [ए]काग्रता से पूरा न किया जा सकता हो। जिस प्रकार बूँद-बूँद [से] घट भर जाता है और पल-पल से युग बन जाता है, उसी [प्र]कार एक-एक काम के करने से मनुष्य अपने जीवन में हजारों-[ह]जार कामों को पूरा कर सकता है। एकाग्रता में बहुत बड़ी [श]क्ति है बहुत बड़ा बल है।

सफल और असफल व्यक्ति में अन्तर क्या है ? यही कि एक [ने] कम काम किया और दूसरे ने अधिक। क्या यही दोनों के [प]रिश्रम के विभिन्न परिणामों का कारण है ? नहीं, बात कुछ और [ह]ी है। सफल व्यक्ति ने अपना सारा काम एकाग्रता और एकता-[न]ता से किया था, इसीलिए उसका श्रम सफल हो गया। असफल व्यक्ति ने भी श्रम तो किया था, किन्तु उसके श्रम में एकाग्रता और एकतानता का अभाव था। इसीलिए असफल व्यक्ति का

श्रम सफल नहीं हो सका। सफलता के लिए परिश्रम के साथ-साथ एकतानता और एकाग्रता का होना भी परम आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् कारलाइल कहता है—"दुर्बल-से-दुर्बल व्यक्ति भी अपनी शक्ति को किसी एक कार्य में केन्द्रित करके कुछ-न-कुछ कर सकता है। इसके विपरीत शक्तिशाली से भी शक्तिशाली व्यक्ति अपनी शक्ति को विखेर कर अपने लक्ष्य में असफल हो जाता है। लगातार गिरने वाली बूंदों से कठोर-से-कठोर चट्टान में भी छेद हो जाता है। निरन्तर की चोट से लोहा भी टूट जाता है।

डिकेन्स कहता है—"ध्यान एक उपयोगी, लाभदायक और प्राप्त करने योग्य गुण है। मैं आपको सचमुच विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे आविष्कारों का एकमात्र कारण मेरी मन की एकाग्रता और एकतानता ही है। चाहे लेखक बनकर देश की विचारधारा में क्रान्ति उत्पन्न कर दीजिए, चाहे खिलाड़ी बनकर कमाल कर दिखाइए और चाहे गायक बनकर संसार को मुग्ध कर लीजिए। कुछ भी कीजिए, पर उसमें अपने तन और मन को लगा दीजिए, तब देखिए—सफलता आपकी चेरी होकर आपके आस-पास चक्कर काटेगी।" इसी को सफलता कहते हैं।

भारतीय विद्वान् इस 'एकाग्रता और एकतानता' को ध्यान योग कहते हैं। काम छोटा हो या बड़ा, उससे सफलता तब तक नहीं मिल सकती, जब तक उसमें मन को डुबो न दिया जाए। जब हमें अपने मन पर और अपनी इन्द्रियों पर इतना अधिकार हो जाए कि उन्हें जहाँ हम लगाना चाहें, वहीं पर वे लगी रहें, इधर-उधर न दौड़ें, तो समझना चाहिए कि योग साधना में हमें सफलता मिली है। वस्तुतः एकाग्रता और एकतानता ही सफलता की एक मात्र कुञ्जी है।
